प्रवचनसार अनुशीलन

भाग–३

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२ ०१५

प्रथम संस्करण हिन्दी	**:**	५ हजार
(१३ अप्रैल २००८)		
वीतराग–विज्ञान (हिन्दी–मराठी) के		
सम्पादकीयों के रूप में	:	८ हजार ८५०
कुल	**:**	**१३ हजार ८५०**

मूल्य : **पच्चीस रुपए**

लैजर टाइपसैटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,

ए–४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

इक्कीसवीं शताब्दी में जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल अग्रिम पंक्ति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सन् १९७६ से जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म और फिर उसके पश्चात् वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में आपके द्वारा जो कुछ भी लिखा गया; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है तथा लगभग सभी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

अबतक आपकी लगभग ७० कृतियाँ हिन्दी में प्रकाशित होकर अनेक संस्करणों के माध्यम से जन-जन तक पहुँच कर लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच चुकी हैं। अनेक कृतियों के गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के अनुवाद भी अनेक संस्करणों के रूप में प्रकाशित होकर समाज में पहुँच चुके हैं। अब तो इन्टरनेट के माध्यम से विश्व के कोने-कोने में आपका साहित्य पहुँच चुका है।

आपकी कृतियों की सूची इसी कृति में अन्यत्र दी गई है।

डॉ. भारिल्ल द्वारा अबतक लगभग ८ हजार से भी अधिक पृष्ठ लिखे जा चुके हैं, जो एक रिकार्ड है। आपके द्वारा लिखा गया साहित्य देश की आठ भाषाओं में ब्यालीस लाख से भी अधिक की संख्या में प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुका है और आज भी अल्प मूल्य में सर्वत्र उपलब्ध है।

यह तो सर्वविदित ही है कि ''डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' नामक शोधप्रबंध पर सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने डॉ. महावीरप्रसाद जैन, टोकर (उदयपुर) को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। उनके साहित्य को आधार बनाकर अनेक छात्रों ने लघु शोध प्रबंध भी लिखे हैं, जो राजस्थान विश्वविद्यालय में स्वीकृत हो चुके हैं एवं अनेक शोधार्थी अभी भी डॉ. भारिल्ल के साहित्य पर शोधप्रबंध शोधकार्य कर रहे हैं। उनके साहित्य पर शोधकार्य करनेवाले छात्रों को डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा छात्रवृत्ति भी प्रदान की जाती है।

प्रात:स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थाधिराज समयसार तथा प्रवचनसार के हार्द को जन सामान्य समझ सके ह्न इस भावना से आपने अत्यन्त सरल भाषा में समयसार अनुशीलन व प्रवचनसार अनुशीलन लिखे हैं। प्रसन्नता का विषय है कि समयसार अनुशीलन पाँच भागों में प्रकाशित होकर लाखों की संख्या में समाज के स्वाध्याय प्रेमियों तक पहुँच चुका है। प्रवचनसार अनुशीलन के भी दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं और यह तीसरा भाग आपके हाथों में प्रस्तुत है।

प्रवचनसार का विषय गूढ, गम्भीर एवं सूक्ष्म है। इसे समझने के लिए बौद्धिक पात्रता भी अधिक चाहिए। विशेष रुचि एवं खास लगन के बिना प्रवचनसार के विषय को समझना सहज नहीं है। अत: पाठकों को अधिक धैर्य रखते हुए इसका स्वाध्याय करना आवश्यक है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागमों को आत्मपिपासुओं के लिए प्रवचनों के माध्यम से लोकप्रिय बनाया तो डॉ. भारिल्ल ने भी सरल व सुबोध भाषा में जन सामान्य को समझने के लिए अनुशीलन के रूप में साहित्य उपलब्ध कराकर महती कार्य किया है, जिसके लिए समाज उनका चिर ऋणी रहेगा। समयसार और प्रवचनसार ह्न दोनों ही ग्रंथराजों की आपने सरल-सुबोध भाषा में टीकायें भी लिखी हैं और इन ग्रन्थों के सार को समयसार का सार और प्रवचनसार का सार नाम से प्रस्तुत किया है। इसप्रकार उन्होंने समयसार और प्रवचनसार ग्रन्थराजों को जन-जन तक पहुँचाने का महान कार्य किया है।

उनके द्वारा विगत २५ वर्षों से लगातार विदेश यात्रायें की जा रही हैं, जहाँ वे विश्व के कोने-कोने में तत्त्वज्ञान का अलख जगा रहे हैं।

इस पुस्तक की टाइपसैटिंग श्री दिनेश शास्त्री ने मनोयोगपूर्वक की है तथा आकर्षक कलेवर में मुद्रण कराने का श्रेय प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल को जाता है। अत: दोनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने में जिन दातारों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, जिनकी सूची इसी ग्रंथ में अन्यत्र प्रकाशित है; उन्हें भी ट्रस्ट की ओर से हार्दिक धन्यवाद। सभी जिज्ञासु इस अनुशीलन का पठन-पाठन कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें ह्न इसी भावना के साथ ह्न

१३ अप्रैल, २००८ ई.

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

कलश १३	२
गाथा २०१	४
गाथा २०२-२०३	९
गाथा २०४	२०
गाथा २०५-२०६	२४
गाथा २०७	३१
गाथा २०८-२०९	३५
गाथा २१०	४०
गाथा २११-२१२	४३
गाथा २१३-२१४	४७
गाथा २१५-२१६	५२
गाथा २१७	५६
गाथा २१८	६२
गाथा २१९	६५
कलश १४	६९
गाथा २२०	७०
गाथा २२१	७३
गाथा २२२	७५
गाथा २२३	७९
गाथा २२४	८२
गाथा २२५	९०
गाथा २२६	९४
गाथा २२७	९९
गाथा २२८	१०२
गाथा २२९	१०५
गाथा २३०	११५
गाथा २३१	१२१
कलश १५	१२७
गाथा २३२	१२९
गाथा २३३	१३४
गाथा २३४	१३८
गाथा २३५	१४१
गाथा २३६	१४३
गाथा २३७	१४६
गाथा २३८	१५०
गाथा २३९	१५५

अनुक्रमणिका

गाथा २४०	१५९
गाथा २४१	१६२
गाथा २४२	२०१
कलश १६	१६७
गाथा २४३-२४४	१६८
गाथा २४५	१७२
गाथा २४६-२४७	१७५
गाथा २४८-२४९	१७८
गाथा २५०	१८२
गाथा २५१	१८४
गाथा २५२-२५४	१८८
गाथा २५५-२५७	१९३
गाथा २५८-२५९	२००
गाथा २६०	२०५
गाथा २६१-२६३	२०८
गाथा २६४	२१४
गाथा २६५-२६७	२१६
गाथा २६८-२६९	२२२
गाथा २७०	२२६
कलश १७	२३०
कलश १८	२३२
गाथा २७१	२३४
गाथा २७२	२३७
गाथा २७३	२४०
गाथा २७४	२४३
गाथा २७५	२४६
कलश १९	३१७
कलश २०	३१९
कलश २१	३१९-३२०
कलश २२	३२१
परिशिष्ट	२४९
गाथा पद्यानुवाद	३२३
कलश पद्यानुवाद	३३१

●●●

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	मैं कौन हूँ	५.००
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	निमित्तोपादान	३.५०
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	रीति-नीति	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	शाकाहार	२.५०
समयसार का सार	३०.००	भगवान ऋषभदेव	४.००
प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००	चैतन्य चमत्कार	४.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-३	२५.००	गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
प्रवचनसार का सार	३०.००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	बिन्दु में सिन्धु	२.५०
जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००	पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००	कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.००
धर्म के दशलक्षण	१६.००	शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
क्रमबद्धपर्याय	१५.००	समयसार पद्यानुवाद	३.००
बिखरे मोती	१६.००	योगसार पद्यानुवाद	०.५०
सत्य की खोज	१६.००	समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००	प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
आप कुछ भी कहो	१०.००	द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
आत्मा ही है शरण	१५.००	अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
सुक्ति-सुधा	१८.००	अर्चना जेबी	१.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००	कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
दृष्टि का विषय	१०.००	शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
गागर में सागर	७.००	बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००	बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्री अतुल चारु खारा, यू.एस.ए.	११०००.००
२. श्रीमती सुनीता बहन नितिनभाई शाह, मुम्बई	५०००.००
३. श्रीमती निमिषा शाह ध.प. श्री राजेन्द्रकुमारजी शाह, मुम्बई	५०००.००
४. श्रीमती मीना बहन मुकेश शाह, मुम्बई	५०००.००
५. श्रीमती भावना बहन सचिन शाह, मुम्बई	५०००.००
६. श्रीमती स्मिता बहन दीपकभाई दोशी, मुम्बई	५०००.००
७. श्रीमती दीपिका बहन अनिलभाई दोशी, मुम्बई	३०००.००
८. श्रीमती नीरु बेन विजयभाई कापड़िया, मुम्बई	३०००.००
९. श्रीमान कान्तिभाई रामजीभाई मोटाणी, मुम्बई	३०००.००
१०. श्रीमती कृष्णादेवी रावका, जयपुर	२०००.००
११. श्रीमती चन्द्रकांता बहन अमृतलाल डी. कोठारी, मुम्बई	२०००.००
१२. श्रीमती अलका बहन मनीषभाई, मुम्बई	२०००.००
१३. श्री प्रवीणचंद छोटालालजी, सूरत	१२५०.००
१४. श्री कैलाशचंदजी जैन, ठाकुरगंज	११००.००
१५. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	१००१.००
१६. श्रीमती पुष्पलता काला, जयपुर	१०००.००
१७. श्रीमती नलनी दोशी, मुम्बई	१०००.००
१८. श्रीमती कमलप्रभा ध.प. स्व. महीपालजी बड़जात्या सुपुत्र अशोककुमार विजयकुमार बड़जात्या, इन्दौर	७५०.००
१९. स्व. बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	५०१.००
२०. श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	५०१.००
२१. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	५०१.००
२२. श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	५०१.००
२३. श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	५०१.००
२४. श्रीमती नीतू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	५०१.००
२५. श्री सुनील जैन हजारीलाल जैन, कोचीन	५०१.००
२६. श्री धर्मेन्द्रकुमार प्रवीणकुमारजी जैन, दिल्ली	५०१.००
२७. श्री दिग. जैन मंदिर, कैराना	५००.००
२८. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	२५१.००
२९. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचंदजी पाटनी, लॉडनू	२५१.००
३०. स्व. सोहनदेवी ध.प. तनसुखलालजी पाटनी सुपुत्र सम्पतलालजी पाटनी, गोहाटी	२५१.००
३१. स्व. ऋषभकुमार जैन स्व. ताराचंदजी गंगवाल, जयपुर की पुण्य स्मृति में	२५१.००
३२. स्व. नेमीचन्दजी पहाड़िया की पुण्य स्मृति में, गोहाटी	२५१.००
३३. श्रीमती विमलादेवी ध.प. सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	२५१.००
३४. श्रीमती गुलकन्दाबेन सुन्दरलालजी जैन हस्ते ब्र. श्रीचन्दजी जैन, देवलाली	२५१.००
३५. श्री शशिकान्त भाई सचिन भाई बालचंद शाह, मुम्बई	५००.००
३६. श्रीमती प्रतिभा बहन छेड़ा, मुम्बई	५००.००
कुल :	**६४६१७.००**

प्रवचनसार अनुशीलन

(भाग-३)

चरणानुयोगसूचक चूलिका

(गाथा २०१ से गाथा २७५ तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

ज्ञान-ज्ञेय को जानकर धर चारित्र महान।
शिवमग की परिपूर्णता पावैं श्रद्धावान॥

आचार्य अमृतचन्द्र इस चूलिका की टीका के प्रथम वाक्य में ही लिखते हैं कि **यह चूलिका दूसरे के लिए लिखी जा रही है। इससे प्रतीत होता है कि आरंभिक दो महाधिकार आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं के लिए ही लिखे थे और अब यह चूलिका दूसरों के लिए लिखी जा रही है।**

वस्तुत: बात यह है कि चरणानुयोग का प्रकरण होने से इसमें उपदेशात्मक भाषा का प्रयोग है; जबकि पहले दो महाधिकार तत्त्व-प्रतिपादक हैं; जिन्हें उत्तम पुरुष (First person) की भाषा में लिखा गया है। यह चरणानुयोग सूचक चूलिका मन्दिर के शिखर और उस पर चढ़ाये गये कलश के समान है। ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव के स्वरूप का निरूपणरूपी मंदिर तो बन चुका है; अब उस पर शिखर बनाना है और उसके भी ऊपर कलश चढ़ाना है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र इसे महाधिकार के रूप में स्वीकार नहीं करते, इसीकारण वे इसे चूलिका कहते हैं; पर आचार्य जयसेन इसे चारित्र महाधिकार कहते हैं। जो कुछ भी हो; पर इसमें जो विषयवस्तु है; वह अपने आप में अत्यन्त उपयोगी और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

चरणानुयोग सूचक चूलिका की तत्त्वप्रदीपिका टीका लिखते हुए आ. अमृतचन्द्र जो प्रथम छन्द लिखते हैं, उसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(इन्द्रव्रजा)

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि: द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरता: परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ।।१३।।

(दोहा)

द्रव्यसिद्धि से चरण अर चरण सिद्धि से द्रव्य।
यह लखकर सब आचरो द्रव्यों से अविरुद्ध ।।१३।।

द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि होती है ह्न यह जानकर शुभाशुभभावरूप कर्मों से अविरत अन्य लोग भी द्रव्य से अविरुद्ध चारित्र का आचरण करो।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव आगामी गाथाओं द्वारा शिष्यों को चारित्र के आचरण में युक्त करते हैं, लगाते हैं।

उक्त छन्द का अर्थ करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी लिखते हैं ह्न

''शरीर-मन-वाणी से भिन्न आत्मा परिणामी नित्य द्रव्य है। यदि आत्मा परिणमन न करे तो दु:ख पलटकर अनुभव की प्राप्ति न हो और यदि आत्मा नित्य न हो तो दु:ख को नाश करनेवाला और अनुभव करनेवाला पदार्थ नहीं रहेगा। अत: आत्मा नित्य परिणामी है।[१]

आत्मा के लक्ष्यपूर्वक जितने वीतरागी परिणाम होते हैं, उतने परिमाण में द्रव्य की सिद्धि होती है। चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध है, ऐसे श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक जो चरण हो, उससे आचरण की सिद्धि होती है। आत्मा के भानसहित राग को छोड़कर जितने परिमाण में वीतरागी परिणाम होते हैं, उतनी शांति होती है तथा उससे ही द्रव्य की सिद्धि होती है।[२]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१ २. वही, पृष्ठ-३

यहाँ आचार्यदेव स्वयं से कहते हैं कि हम तो भावलिंगी संत हैं, हमने चारित्र अंगीकार किया है। हम तो स्वरूप में रमण करनेवाले हैं।

यदि तुम्हें भी ऐसी शांति प्राप्त करना हो तो हमने जैसा कहा है, वैसा करो।[१]''

उत्थानिका के उक्त कलश का आशय यह है कि नित्यानित्यात्मक आत्मवस्तु का मूल स्वरूप समझे बिना किये गये सदाचरण से पुण्य का बंध तो होगा; पर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक धारण किये चारित्र का जो फल है, उसकी प्राप्ति नहीं होगी।

इसीप्रकार सदाचरण के बिना वस्तु का स्वरूप समझना संभव नहीं है अथवा सम्यग्दर्शन और ज्ञान हो जाने पर भी चारित्र धारण किये बिना मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली नहीं है।

इसलिए यही ठीक है कि **द्रव्य की सिद्धि होने पर ही चारित्र की सिद्धि होती है और चारित्र की सिद्धि हो जाने पर ही द्रव्य की सिद्धि होती है। अत: आत्मा का कल्याण करने की भावना रखनेवाले मुमुक्षु भाइयों को चाहिए कि वे द्रव्य के अनुसार चारित्र धारण करें। तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित आत्मवस्तु के भानपूर्वक चारित्र धारण करें।**●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-४

जैनदर्शन में नि:स्वार्थ भाव की भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं। जो व्यक्ति उनके बताये मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है। अत: जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२१३

आचरणप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २०१ से गाथा २३१ तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

अनागार आचरण से बनते श्रमण महान।
प्रज्ञापन आचरण को सुनो भविक धरि ध्यान।।

प्रवचनसार गाथा २०१

आचार्यदेव उत्थानिका की पहली ही पंक्ति में जो लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''अब दूसरों को चारित्र के आचरण करने में युक्त करते हैं।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि **परेषां** और **परान्** शब्दों से यह व्यक्त होता है कि यह चरणानुयोगसूचकचूलिका दूसरों के लिए लिखी गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा को आरंभ करने के पहले पंचपरमेष्ठी का स्मरण करनेवाली इस ग्रंथ के मंगलाचरण की पहली, दूसरी और तीसरी गाथा को उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

''एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।।२।।
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते।।३।।

(हरिगीत)

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन।।१।।
अवशेष तीर्थंकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन।
मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन।।२।।

उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को।
मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को।।३।।

जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित हैं तथा जिन्होंने घातिकर्म-रूपी मल को धो डाला है; ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ। विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरों, सर्वसिद्धों और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार से सहित सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उन सभी को और मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप में सदा विद्यमान रहनेवाले अरहंतों को समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक को अलग-अलग वंदन करता हूँ।''

आरंभिक मंगलाचरण की इन गाथाओं की संगति २०१वीं गाथा के आरंभिक **एवं** शब्द से बिठाई गई है और कहा गया है कि इसप्रकार जिनवरवृषभरूप अरहंत परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी और श्रमणों अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करके आचार्यदेव कहते हैं कि **यदि सांसारिक दु:खों से मुक्त होना चाहते हों तो श्रामण्य को धारण करो।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।२०१।।

(हरिगीत)

हे भव्यजन! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते।
परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो।।२०१।।

हे शिष्यगण! यदि तुम दु:खों से छूटना चाहते हो तो पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धों को, जिनवरवृषभ आदि अरहंतों को तथा श्रमणों को बारम्बार नमस्कार करके श्रामण्य को अंगीकार करो।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया है ह्न

''जिसप्रकार दुखों से मुक्ति चाहनेवाले मेरे आत्मा ने ह्न

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।।५।।[१]

(हरिगीत)

अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण।
अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन।।४।।
परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर।
निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ।।५।।

ह्न इसप्रकार अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को प्रणाम-वंदनात्मक नमस्कार करके विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्य नामक श्रामण्य को, जिस श्रामण्य की इस ग्रंथ में कहे गये ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक दो अधिकारों की रचना द्वारा सुस्थिता हुई है, उस श्रामण्य को मैंने स्वीकार किया है; उसीप्रकार दूसरों के आत्मा भी, यदि दु:खों से मुक्त होना चाहते हैं तो उस श्रामण्य को अंगीकार करो।

उस श्रामण्य को अंगीकार करने का यथानुभूत जो मार्ग है; उसके प्रणेता हम यहाँ खड़े हैं।''

टीका की अन्तिम पंक्ति को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे किसी शिष्य ने आचार्यदेव से ऐसा प्रश्न किया हो कि ह्न आप जिस श्रामण्य को अंगीकार करने की बात कर रहे हो, क्या वह संभव है ? तन पर वस्त्र नहीं रखना, भोजन नहीं करना, भोजन करने में भी अपने हाथ से बनाने की तो बात ही नहीं; यदि कोई स्वयं के लिए बनाए तो उसमें से भी विधिपूर्वक लेना ह्न क्या यह सब संभव है ?

तब आचार्यदेव ने इस पंक्ति के रूप में उत्तर दिया हो कि **इस मार्ग के प्रणेता हम खड़े हैं न?** स्वयं को 'प्रणेता' कहकर आचार्यश्री शिष्यों को हिम्मत दे रहे हैं। हमें ये शब्द सुनकर ऐसा लग सकता है कि ये अभिमान

१. ये गाथायें भी इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण की गाथायें हैं।

से भरे शब्द हैं; किन्तु ये अभिमान से भरे हुए शब्द न होकर आत्मविश्वास से भरे हुए शब्द हैं अर्थात् शिष्यों में आत्मविश्वास भरनेवाले शब्द हैं।

यह वह पंक्ति है, जिस पंक्ति को पढ़ने के बाद गुरुदेवश्री उछल पड़े थे। वे इन शब्दों पर इतने रीझ गये थे, इतने भावविह्वल हो गये थे कि मानो अमृतचन्द्राचार्य साक्षात् उनसे ही यह कह रहे हों कि तुम्हारें पीछे हम खड़े हैं न, क्यों चिन्ता करते हो ?

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी इस गाथा के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट किया गया है।

कविवर वृन्दावनदासजी भी तीन दोहों में इसी बात को दुहरा देते हैं।

उक्त गाथा का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों ! यदि तुम्हें समस्त प्रकार के दु:ख से रहित होना है तो पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके बाह्य-आभ्यन्तर मुनिपना अंगीकार करो।[१] पंच परमेष्ठियों की काय और वचनों द्वारा स्तुति कर, उन्हें नमस्कार कर हमने मुनिपना अंगीकार किया है। वह मुनिपना विशुद्ध ज्ञान-दर्शन में प्रधान है, इससे यह निश्चित होता है कि आत्मा शरीरादि क्रिया से रहित पुण्य-पाप रूप नहीं है। शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसके सम्यग्ज्ञान बिना मुनिपना कदापि नहीं हो सकता।

तथा इस शास्त्र में समाये हुए ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन ह्न इन दो अधिकारों की रचना से हमारा मुनिपना और अधिक विशेष दृढ़ हुआ है। आत्मा का भान तो पूर्व में भी था; किन्तु अब अन्तर में पुण्य-पाप के समस्त विकल्पों को भी नष्ट कर दिया है, जिससे स्वरूप रमणता विशेष बढ़ गई है और बाह्य में भी नग्नदशा वर्त रही है ह्न ऐसा मुनिपना हमने अंगीकार किया है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धा बिना मात्र नग्नदशा धारण करना मुनिपना नहीं है; किन्तु यथार्थ भानपूर्वक अन्तरदशा के साथ बाह्य में शरीर की नग्नदशा भी सहज ही होती है। इसप्रकार यदि तुम्हें भी संसार के समस्त दु:खों से छूटना हो तो तुम भी आत्मा का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-७

करके पंच-परमेष्ठी को नमस्कार कर हमने जैसा मुनिपना अंगीकार किया है, वैसा मुनिपना अंगीकार करो। वह मुनिपना अंगीकार करने से जैसा स्वरूप हमने अनुभव किया है, वैसा ही तुम्हें भी प्राप्त होगा, उसके लिए हम यहीं खड़े है, तुम चले आओ।[१]

तत्त्वज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना नहीं हो सकता और चारित्र बिना मुक्ति नहीं हो सकती; अतः सर्वप्रथम आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो पश्चात् सहज रूप से विशेष लीनता होते हुए मुनिपना आता है। हठ करने से मुनिपना नहीं आता। हे भाई! देखो, आचार्य भगवान की सिंह-वृत्ति, उग्र-पुरुषार्थ। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों ! आप चले आओ। मोक्षमार्ग के प्रणेता, उसे बतानेवाले हम यहाँ खड़े हैं।[२]''

ग्रंथारंभ में आचार्यदेव ने पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके मोह और क्षोभ से रहित साम्यभाव धारण करने की प्रतिज्ञा की थी और कहा था कि यह साम्यभाव ही चारित्र है, धर्म है। उक्त चारित्र को धारण करने के लिए जिस तत्त्वज्ञान को जानना अति आवश्यक है; उक्त तत्त्वज्ञान की चर्चा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकारों में करने के उपरान्त **आचार्यदेव कह रहे हैं कि जिसप्रकार ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को जान कर पंचपरमेष्ठी के नमस्कारपूर्वक हमने चारित्र धारण किया है; यदि तुम दुखों से छूटना चाहते हो तो; उसीप्रकार ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को समझ कर पंचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक तुम भी चारित्र धारण करो; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र धारण किये बिना दुःखों से छुटकारा संभव नही है, मुक्ति प्राप्त करना संभव नहीं है। चारित्र अंगीकार करने में यदि तुम्हें कुछ भय लग रहा हो तो हम तुमसे कहते हैं कि तुम चिन्ता न करो, तुम्हारा मार्गदर्शन करने के लिए मुक्तिमार्ग के प्रणेता-जानकार हम खड़े हैं न !** देखो, आचार्यदेव की वाणी में कितना आत्मविश्वास और करुणा भाव प्रस्फुटित हो रहा है। वे मात्र इस बात को कहते ही नहीं हैं; अपितु अगली गाथाओं और उनकी टीका में मुनिधर्म धारण करने की विधि भी बताते हैं।।२०१।। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-९ २. वही, पृष्ठ-९

प्रवचनसार गाथा २०२-२०३

विगत गाथा में कहा गया है कि श्रामण्य को धारण करो और अब इन गाथाओं में बता रहे हैं कि **दीक्षा धारण करने के पूर्व दीक्षार्थी को क्या-क्या करना चाहिए। सबसे पहले अपने संबंधियों से छुटकारा पाकर पंचाचार धारण करने के लिए आचार्यदेव के पास जाकर अत्यन्त विनयपूर्वक दीक्षा देने की प्रार्थना करनी चाहिए।**

इन गाथाओं में छुटकारा पाने और दीक्षा ग्रहण करने की विधि का ही निरूपण है। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं।।२०२।।
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।।२०३।।

(हरिगीत)

वृद्धजन तिय-पुत्र-बंधुवर्ग से ले अनुमति।
वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर।।२०२।।
रूप कुल वयवान गुणमय श्रमणजन को इष्ट जो।
ऐसे गणी को नमन करके शरण ले अनुग्रहीत हो।।२०३।।

दीक्षार्थी सबसे पहले बन्धुवर्ग से पूँछकर, माता-पिता आदि बड़ों से एवं स्त्री-पुत्रादि से छूटकर; ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करके कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट, गुणाढ्य और श्रमणों को अति इष्ट गणी श्रमण से 'मुझे स्वीकार करो' ह्न ऐसा कहकर प्रणाम करता है और अनुग्रहीत होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए तत्त्वप्रदीपिका टीका में लिखते हैं ह्न

''जो श्रमण होना चाहता है; वह पहले अपने बन्धुवर्ग से पूछता है,

विदा लेता है; माता-पिता आदि गुरुजनों (बड़े-बूढ़ों) से और स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ाता है और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं ह्न वह बन्धुवर्ग से इसप्रकार पूछता है, विदा लेता है कि अहो ! इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुष का आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है ह्न इसप्रकार तुम निश्चय से जानो। इसलिए मैं तुमसे पूछकर विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह्न ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि बन्धु के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा ! अहो ! इस पुरुष के शरीर की जननी (माता) के आत्मा ! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है ह्न ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह्न ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी जनक-जननी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तुम इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराते ह्न ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह्न ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा ! तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया पुत्र) नहीं है ह्न ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह्न ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि-जन्य (पुत्र) के पास जा रहा है। इसप्रकार यह दीक्षार्थी आत्मा, माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों से और स्त्री-पुत्रादि से स्वयं को छुड़ाता है।

जिसप्रकार बन्धुवर्ग से विदा ली और माता-पिता स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ाया; उसीप्रकार अहो ! काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार ! मैं निश्चय से यह

जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! नि:शंकितत्व, निकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनारूप दर्शनाचार ! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण प्रतिष्ठापनसमिति रूप चारित्राचार! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो ! अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गरूप तपाचार! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

अहो समस्त इतर (वीर्याचार के अतिरिक्त अन्य) आचार में प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्ति के अगोपनरूप वीर्याचार ! मैं निश्चय से यह जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक के लिए अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता। इसप्रकार यह दीक्षार्थी ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

इसके बाद वह दीक्षार्थी प्रणत और अनुगृहीत होता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है ह्न आचरण करने और करानेवाले समस्त विभूति की प्रवृत्ति के समान आत्मरूप श्रामण्यपने के कारण जो श्रमण है; ऐसे श्रामण्य के आचरण करने और कराने में प्रवीण होने से जो गुणाढ्य हैं;

सर्व लौकिकजनों के द्वारा नि:शंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषों से रहित होने से जो कुलविशिष्ट हैं; अंतरंग शुद्ध रूप का अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्धरूप होने से जो रूपविशिष्ट हैं; बालकत्व और वृद्धत्व से होनेवाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होने से तथा यौवनोद्रेक की विक्रिया से रहित बुद्धि होने से जो वयविशिष्ट हैं; और यथोक्त श्रामण्य का आचरण न कराने संबंधी पौरुषेय दोषों को पूर्णत: नष्ट कर देने से प्रायश्चित्तादि के लिए मुमुक्षुओं द्वारा जिनका बहुत आश्रय लिया जाता है; इसलिए जो श्रमणों को अति इष्ट है ह्न ऐसे गणी के निकट अर्थात् शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के निकट 'शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि के लिए मुझे अनुगृहीत करो' ह्न ऐसा कहकर दीक्षार्थी प्रणत होता है और 'तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि हो' ह्न ऐसा कहकर गणी आचार्य द्वारा अनुगृहीत होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के समान सभी को पृथक्-पृथक् संबोधित तो नहीं करते हैं; तथापि सभी को संबोधित करने की चर्चा सामूहिक रूप से अवश्य कर देते हैं। विशेष बात यह है कि वे बन्धुवर्ग का अर्थ गोत्रवाले करते हैं और यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि इन सबकी अनुमति बिना दीक्षा लेना संभव नहीं होता हो तो फिर कोई भी दीक्षित ही नहीं हो सकेगा।

उनके स्पष्टीकरण का भाव इसप्रकार है ह्न ''यहाँ जो गोत्र आदि के साथ क्षमाभाव का व्याख्यान किया है, वह अतिप्रसंग-अमर्यादा के निषेध के लिए किया है। ऐसा नियम नहीं है कि उनके क्षमाभाव के बिना दीक्षा ही संभव न हो; क्योंकि प्राचीनकाल में भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि अधिकतर राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की थी और उनके परिवार में जो कोई मिथ्यादृष्टि हुए; उन्होंने उन पर उपसर्ग किया था।

दूसरी बात यह है कि यदि वे गोत्रवालों को अपना मानते हैं और उन्हें

संतुष्ट करने का यत्न करते हैं तो तपस्वी ही नहीं हैं; क्योंकि दीक्षा लेने पर भी गोत्र आदि में ममकार करते हैं तो वे मुनि ही नहीं हैं।''

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने के लिए ३८ चौपाइयाँ, १३ दोहे, २ मनहरणकवित्त और १ द्रुमिल ह्न इसप्रकार ५४ छन्द लिखते हैं; जिनमें आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका और आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत सभी बातें विस्तार से आ जाती हैं।

यद्यपि ये सभी छन्द पठनीय हैं; तथापि पिष्टपेषण और विस्तार भय से उक्त सभी को यहाँ देना संभव नहीं है; किन्तु जिनमें आवश्यक शंका-समाधान प्रस्तुत किया गया, वे कुछ दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

बन्धुवरग सों आपुको, या विधि लेय छुड़ाय।
कहि विराग के वचन बर, मुनिपद धारै जाय।।१९।।
जो आतमदरसी पुरुष, चाहै मुनिपद लीन।
सो सहजहि सुकुटम्ब सों, ह्वै विरकत परवीन।।२०।।
ताहि जु आय परै कहूँ, कहिवे को सनबंध।
तो पूरव परकार सों, कहै वचन निरबंध।।२१।।
कछु ऐसो नहिं नियम जो, सब कुटुम्ब समुझाय।
तबही मुनिमुद्रा धरैं, बसै सु वन में जाय।।२२।।
सब कुटुम्ब काहू सुविधि, राजी नाहीं होय।
गृह तजि मुनिपद धरन मैं, यह निहचै करि जोय।।२३।।
जो कहुं बनै बनाव तौ, पूरबकथित प्रकार।
कहि विरागजुत वचन वर, आप होय अनगार।।२४।।
तहां बन्धु के वर्ग में, निकटभव्य कोइ होय।
सुनि विरागगुत वचन तित, मुनिव्रत धारै सोय।।२५।।

इसप्रकार विराग के वचन कहकर स्वयं को बन्धुवर्ग से छुड़ाकर मुनिपद धारण करे।

जो आत्मदर्शी पुरुष मुनिपद को धारण कर उसमें लीन होना चाहते हैं; वे प्रवीण पुरुष कुटुम्ब-परिवार से सहज विरक्त होते हैं। यदि उन्हें कुछ कहने का प्रसंग उपस्थित हो जावे तो पूर्वोक्त वचनों द्वारा समझावे।

ऐसा कोई नियम नहीं है कि सभी कुटुम्बियों को समझा कर ही वन में जाकर मुनिमुद्रा धारण करे; क्योंकि सभी कुटुम्बी तो किसी भी विधि से राजी नहीं हो सकते; इसलिए घर-छोड़कर मुनिपद धारण करने में यह अनिवार्य नहीं है। यह निश्चय से जानना चाहिए।

यदि कुछ प्रसंग उपस्थित हो जावे तो पूर्व में कथित वचनों के अनुसार कुछ विरागमय वचन कहकर आप स्वयं अनगार (मुनि) हो जावे।

उक्त वैराग्यमय वचनों का लाभ यह है कि अपने बन्धुवर्ग में कोई निकटभव्य हो तो उन वैराग्यमयी वचनों को सुनकर वह भी मुनिपद धारण कर लेवे।

पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में उक्त गाथाओं के भाव को बड़ी ही सरलता से ३ छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

(सवैया इकतीसा)

अपनैं कुटुंब कौ समूह जासौं पूछिकैं सु
महा उपदेस रूप वचन खिरावै है।
माता पिता पुनि सौ कलित्र और पुत्र सौं सु
समिता विचार हियै ममता मिटावै है।।
ग्यानाचार दर्सन चरित्राचार तपाचार
वीरजा सु चारि क्रिया के विषैं सु आवै है।
अैसी दसा सो है जाकौं सोई जीव जती हो है।
सावधान हो कैं आतमीक पद पावै है।।७।।

दीक्षा लेने का अर्थी पुरुष अपने परिवार के सभी लोगों से उपदेशरूप वचनों से पूछकर, माता-पिता, स्त्री-पुत्र के प्रति समताभाव रखकर ममता छोड़ता है और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की क्रियाएँ धारण करता है। जिसकी ऐसी दशा होती है, वही

जीव यति होकर सावधानी पूर्वक यति धर्म पालकर आत्मीक पद को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

पंचाचार आपु आचरै सु और जीवनि कौं
आचाराइवे कैं विषैं अति उतकिष्ट है।
जति पदवी कौं आपु धरै और कौं धरावै
परम प्रवीन जाकौ वचन सु मिष्ठ है।।
कुलरूप जोवन की लियैं सो विसेषताई
मोख अभिलाषी महामुनि कौ सु इष्ट है।
इत्यादिक गुन कौ निवास साधु पास जाके
जाइ करि जोरि दो नवाइ सीस तिष्ठ है।।८।।

आचार्य स्वयं पंचाचार का पालन करने और अन्य मुनियों को पालन कराने में उत्कृष्ट हैं; यतिपद को स्वयं धारण करने और दूसरों को धारण कराने में परम प्रवीण हैं; उनके वचन अत्यन्त मधुर हैं; कुल, रूप, यौवन की विशेषताओं से विशिष्ट हैं और मोक्षाभिलाषी महामुनियों को इष्ट हैं। दीक्षार्थी पुरुष इत्यादि गुणों के धारक आचार्य के पास जाकर, दोनों हाथ जोड़कर, शीश नवाकर खड़ा रहता है।

(सवैया इकतीसा)

लैनहार दिक्ष्या कहै मोहि भव की सु भीति
सुद्ध आतमा के जानिवे की अति इक्ष्या है।
ताथैं मैं सु बार-बार जोरि करि दोइ करौं
अरजी सु नाथ दीजे दीवे की सु सिक्ष्या है।।
कहै गुरु अंगीकार करौ तुम निश्चै करि
यही सुख की सु करतार जिन दिक्ष्या है।
सील सुख सागर है मुकति कौ मारग है
मौकली जहाँ सु पंचघर की सु भिक्ष्या है।।९।।

दीक्षा लेने वाला कहता है कि मैं सांसारिक दुखों से भयभीत हूँ और मुझे शुद्धात्मा को जानने की तीव्र इच्छा है। इसलिए मैं बारम्बार

दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि दीक्षार्थी को दी जाने वाली शिक्षा मुझे दीजिए। गुरु कहते हैं कि सुख देने वाली एकमात्र दीक्षा है; तुम उसे स्वीकार करो। यह दीक्षा शील और सुख की समुद्र है, मुक्ति का मार्ग है और जिसमें पाँच घर से भिक्षा लेने का विधान है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देह-मन-वाणी आत्मा का स्वरूप नहीं है, पुण्य-पाप आत्मा का कर्तव्य नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है ह्न ऐसे आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसमें रमणता करने से वीतरागी मुनिपना होता है, तत्पश्चात् बाह्य में शरीर की नग्नदशा होती है। प्रथमत: मुनिपना अंगीकार करनेवाले जीव को आत्मा सहज आनन्दस्वरूप है ह्न ऐसा सच्चा श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिए।[१]

स्वभावदृष्टि में समस्त विभावों को टालनेरूप दृष्टि हैं। उस दृष्टि के साथ पुरुषार्थ से गुणस्थानों के सामान्य क्रमानुसार प्रथमत: अशुभ परिणति छूटती है, कुटुम्ब आदि का अशुभराग छूटता है, पश्चात् धीरे-धीरे शुभराग को भी छोड़ता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव के भानसहित गृहवास और कुटुम्ब आदि का अशुभराग छोड़ता है और जबतक स्वभाव में ठहर नहीं पाता; तबतक व्यवहार से पंचाचारों को अंगीकार करता हैं। यद्यपि वह शुभराग है; तथापि श्रद्धा अपेक्षा उसका निषेध ही वर्तता है; किन्तु स्वयं की कमजोरीवश राग छूटता नहीं है ह्न यह जानकर शुभराग में प्रवर्तन करता है।

दृष्टि तो अखण्ड़ ज्ञानस्वभाव पर ही है। वहाँ श्रद्धा अपेक्षा तो शुभभावों का निषेध ही है। आत्मश्रद्धान होने से वह उसका त्यागी ही है, फिर भी अशुद्ध उपादानगत योग्यता के कारण अभी तक शुभराग छूटा नहीं है; इसलिये ऊपर कहे अनुसार पंचाचारों का पालन/ग्रहण करता हैं।[२]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१३ २. वही, पृष्ठ-२८

जैनधर्म की परिपाटी तो ऐसी है कि प्रथम तत्त्वज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो, तत्पश्चात् चरणानुयोग अनुसार चारित्र अंगीकार करें ह्न ऐसे मुनिपने का इच्छुक जीव घर-परिवार से विदाई लेकर पंचाचार को अंगीकार करता है।[१]

मुनिदीक्षा लेने का इच्छुक जीव आत्मा के भानपूर्वक विशेष गुणवान मुनि के समीप जाकर, उन्हें प्रणाम कर उनसे दीक्षा की आज्ञा माँगता है।[२]

वास्तव में नियम तो यह है कि मुनिपद का इच्छुक जीव प्रथमत: द्रव्यानुयोग अनुसार तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर, यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उदासीन परिणाम रखकर, परिषहादि सहन करने की सामर्थ्य हो तो स्वयं दीक्षा लेने जाता है और फिर गुरु उसे योग्य जानकर दीक्षा देते हैं।[३]

दीक्षाचार्य गुणाढ्य, कुलविशिष्ट, रूपविशिष्ट, वयविशिष्ट तथा श्रमणों को अत्यन्त प्रिय हैं ह्न उनके पास मुनिपद का इच्छुक जीव दीक्षा ग्रहण करने के लिए जाता है और कहता है कि हे प्रभो ! आत्मस्वभाव के आनन्द में रमण करने के लिए, लीनता करने के लिए आप मुझ पर कृपा करो।

हे भाई ! देखो कितना विनय ! आत्मा का भान तो है और उसमें लीनता भी स्वयं को करनी है; तथापि कहते हैं कि हे नाथ ! आत्मानुभव से मुझे अनुगृहीत करो।[४]

इसप्रकार मुनिपने का इच्छुक जीव आचार्य के समीप आकर विनती करता है, तब आचार्यदेव उस श्रामण्यार्थी की योग्यता और वैराग्य की उत्कृष्टता देखकर आशीर्वाद स्वरूप कहते हैं कि ह्न'तुझे शुद्धात्मतत्त्व के अनुभव की सिद्धि हो।[५]''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि जिसे मुनिधर्म की दीक्षा लेनी

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-२९
२. वही, पृष्ठ-३१ ३. वही, पृष्ठ-३१-३२
४. वही, पृष्ठ-३३-३४ ५. वही, पृष्ठ-३४

है; वह सबसे पहले कुटुम्बीजनों को इसकी जानकारी देवें, माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि से अपने को छुड़ावे।

मूल गाथा में आपृच्छ और विमोचित शब्दों का प्रयोग है। उसमें भी ऐसा भेद किया गया है कि बन्धुवर्ग से पूछकर और माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि से छुड़ाकर; आज्ञा लेने की तो बात ही नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि पूछने में से आज्ञा लेने की ध्वनि निकाली जा सकती है, पर उसमें भी एक बात यह है कि पूछने की बात माता-पिता और पत्नी-पुत्र से नहीं है, परिवारवालों से है। आज्ञा की बात होती तो वह माता-पिता से ही हो सकती थी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आज्ञा की बात तो है ही नहीं; अनुमति की बात स्वीकार करने में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि और कुटुम्बीजनों ने अनुमति नहीं दी तो क्या होगा?

यह प्रश्न सभी टीकाकारों के चित्त को आन्दोलित करता रहा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो इसका समाधान अनुमति लेने की भाषा को प्रस्तुत करके दिया है, जिसमें दीक्षार्थी एक प्रकार से सूचना ही देता है; निश्चय से तो उनके साथ किसी भी प्रकार के संबंध को स्वीकार ही नहीं करता। अबतक राग के कारण जो व्यवहारादिक संबंध था; राग टूट जाने से अब वह भी नहीं रहा है। **'इसकारण अब मैं दीक्षा लेने के लिए जा रहा हूँ।' ह्न यह भाषा सूचना देने की भाषा है, न कि आज्ञा माँगने की।**

आचार्य जयसेन ने यह तर्क दिया है कि कुटुम्बीजन मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं और विरोधी भी हो सकते हैं; ऐसे में उनकी आज्ञा की शर्त कैसे हो सकती है? दूसरे जब सभी से राग टूट ही गया है तो फिर उनसे आज्ञा की बात कैसे संभव है?

इसमें एक प्रश्न और भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि ऐसी बात है तो पूछने की और छुड़ाने की बात करने की भी क्या आवश्यकता है?

इसके उत्तर में यह कहा गया है कि **पूछने और छुड़ाने के बहाने जो वैराग्यमय चर्चा की जायेगी; उससे किसी अन्य कुटुम्बीजन को भी**

वैराग्य हो सकता है और वह भी दीक्षा ले सकता है। इसलिए उक्त प्रसंग आवश्यक माना गया है।

एक बात यह भी तो है कि दीक्षा लेने के पहले सबको मर्यादित भाषा में सूचना देना आवश्यक है; अन्यथा घरवाले और परिवारवाले आपके अचानक चले जाने से आकुलित हो सकते हैं, पुलिस में रिपोर्ट लिखा सकते हैं; ऐसी स्थिति में पुलिस उन्हें और उनके गुरु को गिरफ्तार कर सकती है। इन सबसे बचने के लिए सूचना देना तो अत्यन्त आवश्यक है।

आजकल दीक्षा देनेवाले आचार्य दीक्षार्थी के माँ-बाप आदि को बुलाते हैं, सबके सामने उसकी अनुमति लेते हैं; तब दीक्षा देते हैं।

होता तो यह है कि तीव्र राग के कारण माता-पिता और स्त्री-पुत्रादि भी आसानी से अनुमति नहीं देते; आखिर दीक्षा लेनेवाले को उन सबकी उपेक्षा करके ही दीक्षा लेनी पड़ती है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तत्त्वप्रदीपिका टीका में जिसप्रकार बन्धुवर्गादि से अनुमति लेने की भाषा का प्रयोग है; उसीप्रकार की भाषा का प्रयोग पंचाचार के संदर्भ में भी है। उन्हें भी संबोधित करके कहा गया है कि निश्चय से तुम मेरे शुद्धात्मा नहीं हो, तुम्हें मैं तबतक के लिए ही अंगीकार करता हूँ, जबतक शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं कर लेता।

ऐसी स्थिति में विचारणीय बात यह है कि ध्यानतप जैसे धर्म को भी तबतक के लिए स्वीकार किया जा रहा है, जबतक शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो जाती। तो क्या ध्यान नामक तपाचार के काल में भी शुद्धात्मा उपलब्ध नहीं है?

इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि **उक्त पंचाचारों को व्यवहार पंचाचार या शुभभावरूप पंचाचार या शुभक्रियारूप पंचाचार के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए; निश्चय पंचाचार के रूप में नहीं।** ●

भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२०२**

प्रवचनसार गाथा २०४

विगत गाथाओं में दीक्षा लेने की आरंभिक क्रिया-प्रक्रिया का निरूपण कर अब इस गाथा में **दीक्षित साधु का स्वरूप स्पष्ट करते हैं,** जो इसप्रकार है ह्न

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ।।२०४।।

(हरिगीत)

रे दूसरों का मैं नहीं ना दूसरे मेरे रहे।
संकल्प कर हो जितेन्द्रिय नग्नत्व को धारण करें।।२०४।।

'मैं दूसरों का नहीं, दूसरे पदार्थ मेरे नहीं है; इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है' ह्न ऐसा वस्तुस्वरूप निश्चित किया है जिसने, वह दीक्षार्थी जितेन्द्रिय होता हुआ, यथाजातरूपधर अर्थात् जैसा नग्न दिगम्बर पैदा हुआ था, वैसा ही नग्न दिगम्बर रूप धारण करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उसके बाद वह दीक्षार्थी यथाजातरूपधर होता है। तात्पर्य यह है कि वह सभी वस्त्राभूषण का त्याग कर नग्न दिगम्बर वेष धारण कर लेता है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है ह्न 'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ और परपदार्थ भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं; क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से सभी पदार्थ पर के साथ के संबंध से रहित हैं।

'इसलिए इस षड्द्रव्यात्मक लोक में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है' ह्न इसप्रकार व्यवस्थित हुई है बुद्धि जिसकी और जो परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामी संबंध जिनका आधार है ह्न ऐसी इन्द्रियों और नोइन्द्रियों को जीतने से जितेन्द्रिय हुआ है; वह दीक्षार्थी आत्मद्रव्य

का स्वाभाविक शुद्धरूप धारण करने से यथाजातरूपधर होता है अर्थात् नग्न दिगम्बर दशा को धारण करता है।''

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इसीप्रकार सामान्य अर्थ कर देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मनहरण और ४ दोहा ह्न इसप्रकार ५ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। मनहरण छन्द में तो वे गाथा और टीका के भाव को मात्र दुहरा ही देते हैं; किन्तु दोहों में **यथाजात-रूपधर** पद की व्याख्या करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

जथाजात को अर्थ अब, सुनो भविक धरि ध्यान।
ग्रंथपंथ निर्ग्रंथ जिमि, मंथन करी प्रमान।।६२।।
स्वयंसिद्ध जसो कछुक, है आतम को रूप।
तैसे निजघर में धरै, अमल अचल चिद्रूप।।६३।।
दूजो अर्थ प्रतच्छ जो, जैसो मुनिपद होय।
तैसी ही मुद्रा धरै, दरवलिंग है सोय।।६४।।
ऐसे दोनों लिंग को, धारत धीर उदार।
जथाजात ताको कहैं, बरै सोइ शिवनार।।६५।।

मैं अब निर्ग्रन्थों के ग्रन्थों का मंथन करके उनके अनुसार यथाजात पद का अर्थ समझाता हूँ। हे भव्यजीवो ! उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

आत्मा का जैसा जो कुछ अमल, अचल, स्वयंसिद्ध चैतन्यरूप है; उसी में अपनापन धारण करके जमे-रमे ह्न ऐसा यह यथाजात भावलिंग है।

दूसरा अर्थ यह है कि मुनिराजों जैसा नग्न दिगम्बर रूप होता है, वैसी ही मुद्रा धारण करना द्रव्यलिंग है।

इसप्रकार द्रव्यलिंग और भावलिंग ह्न दोनों को जो धीर और उदार व्यक्ति धारण करता है, उस रूप को यथाजातरूप कहते हैं और वह व्यक्ति मुक्तिरूपी नारी का वरण करता है।

कविवर पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को एक इकतीसा सवैया में सरलता से प्रगट कर देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वह श्रामण्यार्थी ऐसा निश्चय करता है कि देह-देवल में विराजमान मैं स्वयं आत्मा किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ और परपदार्थ मेरे नहीं हैं। मैं शरीर, मन, वाणी, स्त्री, कुटुंब परिवार से भिन्न हूँ। देव-शास्त्र-गुरु भी मेरे नहीं हैं और मैं उनका नहीं हूँ।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप भी मेरे नहीं हैं, वे मुझसे भिन्न पर हैं। पुण्य-पाप मुझमें उत्पन्न होने पर भी मैं उनका कदापि नहीं हूँ। तीनों काल पुण्य-पाप और शरीर से रहित जैसा मैं असंगतत्त्व हूँ, वैसा ही असंगतत्त्व वर्तमान में हूँ। पारमार्थिक दृष्टि से मेरा किसी परपदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। छह द्रव्यों से व्याप्त इस लोक में अपने आत्मा के बिना दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है।[१]

मैं चिदानन्द ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ। शरीर तथा रागादि से भिन्न हूँ ह्न ऐसा ज्ञान-श्रद्धान तो गृहस्थावस्था में भी था; किन्तु अब स्वभावाश्रय के कारण अंतर में ध्यान की लीनता कर चारित्र प्रगट हुआ है। अन्तरंग से राग का अपनापन टूटता जा रहा है और सहज यथाजातरूपधरपना प्राप्त हुआ है, इसी का नाम भावलिंगी मुनिदशा है। सच्चे भान बिना यथार्थ मुनिपना नहीं होता।[२]

आत्मा का जो मूलभूत ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसकी प्राप्ति का नाम यथाजातरूपधरपना है ह्न ऐसी अंतरदशा-पूर्वक मुनिपद होता है।[३]

भगवान आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को छोड़कर अन्य तादात्म्य संबंध, संयोग संबंध, लक्ष्य-लक्षण संबंध, गुण-गुणी संबंध इत्यादि कोई भी संबंध नहीं है।[४]

इसप्रकार समस्त संबंधों का निषेध होने से यथार्थ निर्णयपूर्वक

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-३५
२. वही, पृष्ठ-३५
३. वही, पृष्ठ-३६
४. वही, पृष्ठ-३६

जिसकी बुद्धि निर्मल हुई है, उसे ही सच्चा मुनिपना हो सकता है, अन्य को नहीं।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो दीक्षार्थी परपदार्थों से एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि तोड़कर अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही अपनापन स्थापित कर; उसमें ही जम जाता है, रम जाता है और तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न दिगम्बर दशा को धारण करता है; वह दीक्षार्थी ही मुक्तिपद को प्राप्त करता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-३६-३७

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। **अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।**

सुनकर नहीं, पढकर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्म-ध्यान होता है तो उसी समय आत्म प्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसी समय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

प्रवचनसार गाथा २०५-२०६

इन २०५ व २०६वीं गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि अब अनादि संस्कार से अनभ्यस्त होने से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है और नये प्रयास के अभ्यास की कुशलता से जो उपलब्ध होता है ह्न उस यथाजातरूपधरपने के बहिरंग और अंतरंग ह्न इन दो लिंगों का उपदेश करते हैं। तात्पर्य यह है कि इन गाथाओं में द्रव्यलिंग और भावलिंग की चर्चा करते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।२०५।।
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।२०६।।

(हरिगीत)

शृंगार अर हिंसा रहित अर केशलुंचन अकिंचन।
यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिर्लिंग है।।२०५।।
आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित।
शुध योग अर उपयोग से जिनकथित अंतरलिंग है।।२०६।।

श्रमण का बाह्यलिंग (द्रव्यलिंग) सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच वाला और जन्म के समय के रूप जैसे रूपवाला, शुद्ध, हिंसादि से रहित और शारीरिक शृंगार से रहित होता है। मूर्च्छा और आरंभ से रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित, पर की अपेक्षा रहित ह्न ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित अंतरंग लिंग (भावलिंग) मोक्ष का कारण है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यथोक्त क्रम से जो स्वयं यथाजातरूपधर हुए हैं; उनके अयथा-जातरूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि भावों का अभाव होता ही

है और उनके अभाव के कारण; जो कि उनके सद्भाव में होते थे ह्न ऐसे १. वस्त्राभूषण का धारण, २. सिर और दाढ़ी-मूछों के बालों का रक्षण, ३. परिग्रह का होना, ४. सावद्य योग से युक्त होना और ५. शारीरिक संस्कार (शृंगार) का करना ह्न इन पाँचों का अभाव भी होता ही है। इसकारण १. जन्म के समय जैसा नग्नरूप, २. सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लुंचन, ३. शुद्धत्व (अपरिग्रहरूप दशा), ४. हिंसादि पापों से रहितपना और ५. शारीरिक शृंगार का अभाव भी होता ही है; इसलिए यह बहिर्लिंग है।

आत्मा यथाजातरूपधरपने से दूर किये गये अयथाजातरूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि भावों का अभाव होने से, जो उनके सद्भाव में होते थे ह्न ऐसे १. ममत्व और कार्य की जिम्मेदारी लेने के परिणाम, २. शुभाशुभ से उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता तथा ३. परद्रव्य से सापेक्षता ह्न इन तीनों का अभाव होता है; इसलिए उस आत्मा के १. मूर्च्छा और आरंभ से रहितता, २. उपयोग और योग की शुद्धता और ३. पर की अपेक्षा से रहितता होती ही है; इसलिए यह अंतरंग लिंग है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को १-१ मनहरण कवित्तों में सरलता से प्रस्तुत कर देते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

जथाजात दर्वलिंग ऐसो होत जहाँ,
परमानू परमान परिगह न रहतु है।
शीस और डाढी के उपारि डारै केश आप,
शुद्ध निरगंथपंथ मंथ के गहतु है।।
हिंसादिक पंच जाके रंच नाहिं संचरत,
ऐसे तीनों जोग संच संच निबहतु है।

देह खेह-खान के संवारनादि क्रियासेती,
रहित विराजै जैसी आगम उकतु है।।६६।।

जिनागम में कथित यथाजातद्रव्यलिंग ऐसा होता है कि जहाँ परमाणुमात्र परिग्रह नहीं होता, सिर और दाढ़ी-मूछ के बाल स्वयं उखाड़ दिये जाते हैं, जिनवाणी के मंथन पूर्वक शुद्ध निर्ग्रन्थ (नग्न दिगम्बर) दशा ग्रहण की जाती है, जिसमें हिंसादि पाँच पाप रंचमात्र भी नहीं होते हैं, तीनों योगों को भी पूरी सावधानी पूर्वक निर्वाह किया जाता है, स्वभावत: अशुचि इस देह को संभारने (शृंगार करने) की क्रिया भी नहीं होती है।

परदर्वमाहिं मोह ममतादि भावनि को,
जहां न अरंभ कहूँ निरारम्भ तैसो है।
शुद्ध उपयोग वृन्द चेतना सुभावजुत,
तीनों जोग तसो तहां चाहियत जसो है।।
परदर्व के अधीन वर्त्तत कदापि नाहिं,
आतमीक ज्ञान को विधानवान वैसो है।
मोक्षसुखकारन भवोदधि उधारन को,
अंतरंगभावरूप जैनलिंग ऐसो है।।६७।।

जहाँ परद्रव्यों में मोह-ममतादि भावों का और सभी प्रकार के आरंभ का अभाव होता है; चेतना स्वभाव में युक्त शुद्धोपयोग और जिनागमानुसार तीनों योगों की शुद्धि होती है; आत्मीक ज्ञान का विधान ऐसा है कि परद्रव्यों की आधीनता कदापि नहीं होती; भवोदधि से पार उतारनेवाला और मोक्षसुख का कारणरूप जिनागमकथित भावलिंग ऐसा होता है।

पण्डित देवीदासजी भी इसीप्रकार दो छन्दों में इन गाथाओं का भाव प्रस्तुत कर देते हैं। पिष्टपेषण के भय उन्हें यहाँ देना उपयुक्त नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यथाजात अर्थात् सहजरूप, ज्ञायकपना। अनादि से प्रत्येक जीव यथाजातस्वरूपी ही है; किन्तु अब वर्तमान में श्रमणों ने निर्मल पर्याय प्रगट करके यथाजातरूप को धारण किया हैं अर्थात् यथाजातरूपधर हुए हैं।[१]

यथाजातरूपधरपना यह वीतरागी सहजदशा की अस्ति है और उसमें मोह-राग-द्वेषपने की नास्ति है। यहाँ श्रामण्यार्थी जीव ने हठपूर्वक किसी का त्याग नहीं किया है; अपितु सहज-स्वभाव से जन्मी वीतरागी दशा उसे प्राप्त हुई है।[२]

अन्दर में सहज वीतरागदशारूप यथाजातरूपधरपना हो तो मोह-राग-द्वेषादि का अभाव होता ही है और जहाँ मिथ्यात्व राग-द्वेषादि का अभाव हुआ, वहाँ वस्त्रादि भी नहीं होते; क्योंकि मोहादि के सद्भाव में ही वस्त्राभूषण देखने में आते हैं।[३]

इसप्रकार रागादि के अभाव में मुनियों की बाह्य दशा को स्पष्ट करनेवाले निम्न पाँच बोलों को बताया गया है ह्न

१. जन्मसमय के रूपसमान नग्नरूप होता है।
२. मस्तक और दाढ़ी के केशों का लोंच करते हैं।
३. शुद्धपना होने से वस्त्रादि अथवा धनादि परिग्रह उनके नहीं है।
४. हिंसादि से रहितपना होने से रुपये-पैसे का लेन-देन नहीं हैं।
५. अप्रतिकर्म अर्थात् शरीर का शृंगार आदि नहीं करते।

इसप्रकार भावलिंगी मुनियों का बाह्यलिंग है।[४]

आरंभादि से रहित ऐसी मुनिदशा के बाह्य में विगत पाँच बातों से निवृत्ति है और अन्तर में राग-द्वेषादि आरम्भ से निवृत्ति है। इसप्रकार उपयोग की शुद्धि वर्तती है। उपयोग स्व में ही लगा होने से उसमें पर-द्रव्य की सापेक्षता का अभाव है।[५]

यहाँ ध्यान करने हेतु अन्तर-गुफा में जाने की बात कही है। बाह्य पत्थर की गिरि-गुफा में तो सिंहादि पशु-पक्षी भी रहते हैं; परन्तु

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-४९
२. वही, पृष्ठ-४२
३. वही, पृष्ठ-४२
४. वही, पृष्ठ-४२-४३
५. वही, पृष्ठ-४३

मुनिराज अन्तर चैतन्यस्वभाव की गुफा में जाकर आत्मा को ध्याते हैं, तब उनके ह्न १. मूर्च्छा और आरम्भ से रहितता होती है। २. उपयोग और योग की शुद्धि होती है। ३. पर की अपेक्षा से रहितपना होता है ह्न इसप्रकार उनके अन्तरंग भावलिंग पाया जाता है।

बाह्य में द्रव्यलिंग हो, किन्तु अन्तर में भावलिंग न हो तो वह मुनि नहीं है। उसीप्रकार अन्तरंग में भावलिंग हो और बाहर द्रव्यलिंग न हो ऐसा संभव नहीं है।[१]''

द्रव्यलिंग और भावलिंग के संबंध में हमारी बहुत गलत धारणाएँ हैं। 'द्रव्यलिंग' शब्द सुनते ही हमें ऐसा लगने लगता है जैसे मुँह में कड़वाहट-सी आ गई हो। द्रव्यलिंग हमें बिल्कुल हेय लगता है और भावलिंग साक्षात् मोक्षस्वरूप ही प्रतीत होता है; लेकिन हमें **यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति द्रव्यलिंग और भावलिंग ह्न दोनों के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता।**

सिद्धचक्रमहामण्डलविधान की जयमाला में कहा है ह्न

भावलिंग बिन कर्म खिपाई, द्रव्यलिंग बिन शिवपद जाई।
यो अयोग कारज नहीं होई, तुम गुण कथन कठिन है सोई।।

हे भगवन्! द्रव्यलिंग के बिना कोई मोक्ष चला जाय और भावलिंग के बिना कर्मों का नाश हो जाय ह्न जिसप्रकार यह असंभव है; उसीप्रकार तुम्हारें गुणों का कथन करना भी कठिन है। जब मोक्ष प्राप्त करने के लिए दोनों ही लिंग अनिवार्य हैं, तब एक बुरा और दूसरा अच्छा ह्न यह कैसे हो सकता है?

यदि कोई कहे कि शास्त्रों में तो द्रव्यलिंगी मुनियों की बहुत निंदा की गई है तो उससे कहते हैं कि **भाई! जहाँ द्रव्यलिंगी मुनियों की निंदा की बात आती है, वह भावलिंग के बिना जो द्रव्यलिंग है, उसकी निंदा है; भावलिंग के साथ जो द्रव्यलिंग है, उसकी नहीं। वस्तुत: द्रव्यलिंग और भावलिंग तो साथ-साथ ही होते हैं।**

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-४४

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जिसप्रकार भावलिंग के बिना होनेवाले द्रव्यलिंग की निंदा होती है; उसीप्रकार द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग की भी निंदा होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता।

इसका उत्तर यह है कि **द्रव्यलिंग के बिना भावलिंग होता ही नहीं है; पर द्रव्यलिंग भावलिंग के बिना हो जाता है।** जब हम किसी को भावलिंगी कहते हैं, तब उसका अर्थ यह होता है कि वह भावलिंगी तो है ही, द्रव्यलिंगी भी है। यही कारण है कि शास्त्रों में भावलिंग की निंदा नहीं है।

इस संबंध में दूसरा विवेचनीय बिन्दु यह है कि **द्रव्यलिंग बाह्यक्रिया का नाम है और श्रामण्य के लिए उसका होना भी अनिवार्य है।** शरीर की नग्नता आदि क्रिया संबंधी भाव, शुभभाव हैं और भावलिंग शुद्धोपयोगरूप है, शुद्धपरिणतिरूप है। यद्यपि द्रव्यलिंग के बिना मोक्ष नहीं होता, तथापि द्रव्यलिंग से भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि **द्रव्यलिंग तो जड़ की क्रिया और शुभभावरूप है और मोक्ष जड़ की क्रिया और शुभभावों से नहीं होता।** गाथा २०५ में द्रव्यलिंग का जो स्वरूप कहा है, उसमें जो 'यथाजातरूप' कहा है; उसका तात्पर्य यह है कि जैसा माँ के पेट से जन्म लिया था, वैसा ही रूप। उस रूप के साथ एक लंगोट भी नहीं रख सकते।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिमार्ग में इन दोनों का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; पर बात यह है कि शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणतिरूप होने से भावलिंग मुक्ति का साक्षात् कारण है, निश्चयकारण है। **यद्यपि शुभक्रिया और शुभभावरूप होने से द्रव्यलिंग साक्षात् कारण नहीं है, निश्चय कारण नहीं है; तथापि भावलिंग का सहचारी होने से उपचरित कारण है, परम्परा कारण है, व्यवहार कारण है और मुक्तिमार्ग में उसका होना भी अनिवार्य है।**

मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भावों के अभावरूप शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग का नाम भावलिंग है और छटवें गुणस्थान के योग्य पंचमहाव्रतादि के शुभभाव

और आगमानुसार नग्न दिगम्बर दशा आदि निर्दोष आचरण का नाम द्रव्यलिंग है। छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले मुनिराज और इससे भी ऊपर चौदहवें गुणस्थान तक के सभी मुनिराज भावलिंगी हैं और द्रव्यलिंगी भी हैं।

ध्यान रहे अरहंत भगवान भी स्नातक निर्ग्रन्थ मुनिराज ही हैं।

जिन मुनिराजों के बाह्याचरण और शुभभाव तो जिनागमानुसार हों, पर मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव न हो, उन्हें मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी कहते हैं।

जिनके बाह्याचरण और शुभभाव आगमानुसार हों और मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायों का अभाव भी हो; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का अभाव नहीं हो; वे चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी हैं।

इसीप्रकार जिनके बाह्याचरण और शुभभाव आगमानुसार हैं और मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है, पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव नहीं है; वे पंचमगुणस्थान-वर्ती द्रव्यलिंगी हैं।

जिनके बाह्याचरण और शुभभाव भी छटवें गुणस्थान की भूमिका के योग्य हैं और मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का भी अभाव है; वे सभी भावलिंगी संत हैं।

जिनके न तो मिथ्यात्व व कषायों का अभाव है और न आगमानुसार आचरण ही है; वे न तो द्रव्यलिंगी हैं, न भावलिंगी। उन्हें द्रव्यलिंगी कहना भी द्रव्यलिंग का अपमान है।

आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में धर्मविहीन श्रमणों को नटश्रमण कहते हैं और उनके भेष को गन्ने के फूल के समान बताया है, जिन पर न तो फल ही लगते हैं और न जिनमें गंध ही होती है।[१]

अरे भाई ! यह बात शास्त्राधार से गहराई से समझने की है, इसमें किसी भी प्रकार का हठ ठीक नहीं है। यह विषय अत्यन्त संवेदनशील विषय है; अत: इसके प्रतिपादन में भी विशेष सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है। ●

१. अष्टपाहुड़ : भावपाहुड़, गाथा ७१

प्रवचनसार गाथा २०७

विगत गाथाओं में द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **दीक्षार्थी गुरुमुख से द्रव्यलिंग और भावलिंगरूप मुनिधर्म का स्वरूप सुनकर, समझकर; उन्हें विनयपूर्वक नमस्कार करके मुनिधर्म अंगीकार करता है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो।।२०७।।

(हरिगीत)

जो परमगुरु नम लिंग दोनों प्राप्त कर व्रत आचरें।
आत्मथित वे श्रमण ही बस यथायोग्य क्रिया करें।।२०७।।

परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगों को धारण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रिया को सुनकर, उपस्थित होता हुआ अर्थात् आत्मा के समीप स्थित होता हुआ श्रमण होता है।

उक्त गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसके बाद श्रमण होने का इच्छुक दीक्षार्थी दोनों लिंगों को धारण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और उपस्थित होता है। उपस्थित होता हुआ श्रामण्य की सामग्री पर्याप्त होने से श्रमण होता है। अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं ह्न

इस यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरंग व अंतरंग लिंग के धारण की विधि के प्रतिपादक होने से अरहंत भगवान और दीक्षाचार्य व्यवहार से मुनिलिंग को देनेवाले कहे जाते हैं। दीक्षार्थी उक्त देने और लेने की क्रिया से उन्हें सम्मानित करके उनसे तन्मय होता है।

इसके बाद भाव्य-भावकभाव से प्रवर्तित परस्पर मिलन के कारण

स्वपरविभाग अस्त होने से सर्वस्वदातार मूल परमगुरु अरहंतदेव और उत्तर परमगुरु दीक्षाचार्य को नमस्कार क्रिया के द्वारा सम्मानित करके भावस्तुतिवंदनामय होता है।

इसके बाद सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा समय (आत्मा) में परिणमित होते हुए आत्मा को जानता हुआ सामायिक में आरूढ़ होता है।

इसके बाद प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से भिन्न किये जानेवाले आत्मा को जानता हुआ; अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वचन-कायसंबंधी कर्मों से भिन्नता में आरूढ़ होता है।

इसके बाद समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत काय का उत्सर्ग (उपेक्षा-त्याग) करके यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र सम्यग्दृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रमण होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक छन्द में बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत कर देते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(सवैया इकतीसा)

अरहंत अथवा सु दिक्ष्या कौ दिवैया गुरु
द्रव्य भाव लिंग कौ सु उपदेस करै है।
तिन्है मुनि हूवे की सु इक्ष्या जो सु उभै लिंग
धारि सोई महामुनि के सु पाइ परै है।।
पंच महाव्रत आदि मुनि की क्रिया समस्त
सुनिकैं सु भव्य जती कौ स्वरूप धरै है।
सब ही विषैं सु समदिष्टि सबकौं सु इष्ट
अैसौ साध होहि जो सु भौ समुद्र तरै है।।१३।।

मुनि होने की इच्छा रखनेवाले श्रावक को अरहंत भगवान अथवा दीक्षा देनेवाले गुरु द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप समझाते हैं और मुनिपद धारण करने का उपदेश देते हैं।

उनका उपदेश सुनकर दोनों लिंगों रूप मुनिधर्म धारण करके उनके पैरों में पड़ते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। उनसे पंचमहाव्रतादि सभी क्रियाओं को सुनकर, समझकर यति के वास्तविक स्वरूप को धारण कर लेते हैं। ऐसे मुनिराजों की सभी के प्रति समदृष्टि रहती है, इसीकारण वे सबके इष्ट होते हैं और इसीप्रकार के साधु संसारसमुद्र से पार होते हैं।

कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मनहरण और ६ दोहे ह्न इसप्रकार ७ छन्दों में स्पष्ट करते हैं; जिनमें मनहरण छन्द में तो देवीदासजी के समान ही गाथा की बात को प्रस्तुत कर देते हैं, पर दोहों में तत्त्वप्रदीपिका में प्रस्तुत विषय-वस्तु को उसी रूप में विस्तार से स्पष्ट करते हैं। उनके सभी छन्द मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा के भानपूर्वक कुटुंबीजनों से विदा लेकर, गुरु के पास दीक्षा लेकर, पंचमहाव्रत पूर्वक श्रामण्यार्थी जीव भाव और द्रव्यलिंग को ग्रहण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रतादि क्रियाओं को संभालता है और आत्मस्वभाव में स्थित रहता है।[१]

बाह्य में निर्ग्रन्थ लिंग न हो, वस्त्रादि से सहितपना हो, वह मुनित्व की सामग्री नहीं है। बाह्य में द्रव्यलिंगी हो जाए; किन्तु अन्तर में वीतरागतारूप भावलिंग न हो तो भी मुनिपना नहीं है।[२]

अन्तर में ज्ञायकस्वरूप का अवलंबन लेकर, बाह्य पदार्थों और पुण्य का अवलंबन छोड़कर, अन्तर स्वरूप में ठहरने का नाम भावलिंग है। बाह्य में निष्परिग्रही इत्यादि रहना तो द्रव्यलिंग है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-४६ २. वही, पृष्ठ-४६-४७

इन दोनों ही लिंगों का स्वरूप परमगुरु प्रतिपादन करते हैं।[१]

परमगुरु ने मुझे द्रव्यलिंग दिया है, यह तो उपचार से कहा जाता है। आत्मा के भान और ऐसे वीतरागी मुनिदशा बिना कभी भी सुखी नहीं हुआ जा सकता; क्योंकि सच्चे ज्ञान बिना मुनिदशा नहीं है और मुनिदशा की प्राप्ति बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि दीक्षार्थी अपने गुरु दीक्षाचार्य को अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार करके उनसे मुनि जीवन में होनेवाले व्रत और क्रियाओं के बारे में सुनकर समझता है, फिर आत्मा के समीप उपस्थित होता हुआ अर्थात् आत्मध्यान करता हुआ, द्रव्यलिंग और भावलिंग ह्न दोनों को धारण करता हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित नग्न दिगम्बर दशारूप बाह्याचरण को धारण करता हुआ साक्षात् श्रमण बन जाता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-४७
२. वही, पृष्ठ-४७

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भांति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्याय की कर्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीव-द्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो?

ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८

प्रवचनसार गाथा २०८-२०९

जब कोई सम्यग्दृष्टि दीक्षार्थी मुनिदीक्षा लेता है, तब अपने गुरु से संबंधित बातों को समझकर, नग्न दिगम्बर दशा धारण कर, केशलुंचन आदि दीक्षा संबंधी सभी प्रक्रिया को पार कर, आत्मा में उपस्थित हो जाता है, आत्मलीन हो जाता है, सप्तम गुणस्थान की भूमिका को प्राप्त हो जाता है।

यह बात विगत गाथा में समझाकर अब इन गाथाओं में यह कहते हैं कि **आत्मध्यान से च्युत होकर जब यह शुभोपयोग में आता है, छटवें गुणस्थान में आता है तो अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव में आता हुआ छेदोपस्थापक होता है।**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।२०८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।२०९।।

(हरिगीत)

व्रत समिति इन्द्रिय रोध लुंचन अचेलक अस्नान व्रत।
ना दन्त-धोवन क्षितिशयन अर खड़े हो भोजन करें।।२०८।।
दिन में करें इकबार ही ये मूलगुण जिनवर कहें।
इनमें रहे नित लीन जो छेदोपथापक श्रमण वह।।२०९।।

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, केशलोंच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े आहार और दिन में एक बार आहार ह्न ये श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं। इनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रत की व्यक्तियाँ होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिरूप पंच महाव्रत और उसी की परिकरभूत पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियरोध, केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलकता, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े भोजन और दिन में एक बार भोजन ह्न इसप्रकार ये २८ निर्विकल्प सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं।

जब श्रमण निर्विकल्प सामायिक संयम में आरूढ़ता के कारण, जिसमें विकल्पों का अभ्यास नहीं है ह्न ऐसी दशा से च्युत होता है; तब 'केवल स्वर्णमात्र के अर्थी को कुंडल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना भी श्रेय है; ऐसा नहीं है कि सर्वथा स्वर्ण की प्राप्ति ही श्रेय हो' ह्न ऐसा विचार कर मूल गुणों में विकल्प (भेद) रूप से अपने को स्थापित करता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को न केवल तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; अपितु उदाहरण वही स्वर्ण और कुण्डलादि का ही देते हैं।

कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव ३ मनहरण कवित्तों में प्रस्तुत करते हैं। इनमें पहले छन्द में २८ मूलगुणों के नाम मिलते हैं, दूसरे में छेदोपस्थापन चारित्र की बात करते हैं और तीसरे छन्द में सोने का उदाहरण देकर बात को स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार उक्त तीन छन्दों में गाथाओं और उनकी टीका का भाव पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। उक्त तीनों छन्द मूलत: पठनीय हैं।

पण्डित देवीदासजी 'प्रवचनसारभाषाकवित्त' में इन गाथाओं के भाव को १ इकतीसा सवैया और १ दोहा ह्न इसप्रकार २ छन्दों में स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार हैंह्न

(सवैया इकतीसा)

पंच महाव्रत पालै समिति प्रकार पंच
पंच इंद्री कौं निरोधि लौंचि कच खौवै है।
क्रिया षडावासक सु पालै पुनि छांड़ै वस्त्र
तजै दंतधोवन नहीं सु तन धोवै है।।
ठाढ़ै लघु भोजन करै तथा सु एक बार
भूमिसैंन थोरौ पीछिली सु रैंन सोवे है।
मूल गुन कहे आठ बीस ये जिनागम में
तिन्हि की प्रवर्ति सौं जतित्वपनौं होवे है।।१४।।

पंच महाव्रत और पंच समितियों का पालन करना और पंचेन्द्रियों का निरोध करना, केशलुंचन करना, छह आवश्यक क्रियाओं का पालन करना, वस्त्रों का त्याग करना, दातुन नहीं करना; स्नान नहीं करना, दिन में एक बार अल्पाहार लेना, खड़े-खड़े अपने हाथ में आहार लेना और पिछली रात में थोड़ा-बहुत भूमि पर शयन करना ह्न जिनागम में मुनिराजों के उक्त २८ मूलगुणों कहे गये हैं। इनके पालन से मुनिपना होता है।

(दोहा)

संजिम तैं प्रमाद जो लगै मूलगुन काज।
तह छेदोपस्थापना करै जो सु मुनिराज।।१५।।

उक्त शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्त संयत से च्युत होने पर जो उक्त मूल गुणों रूप शुभभावमय प्रमत्त अवस्था आती है, वह छेद है; उसमें उपस्थित होता हुआ और फिर पुरुषार्थपूर्वक अप्रमत्तदशा को प्राप्त होना छेदोपस्थापना संयम है।

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''साधुपद प्रगट करने के पूर्व देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है; क्योंकि जब तक सच्चे देव-शास्त्र गुरु का स्वरूप

नहीं जानेंगे, तब तक मिथ्यात्वभाव टलनेवाला नहीं है और मिथ्यात्व के अभाव बिना सच्चा साधुपना संभव नहीं है।

बाह्य में परिग्रह और अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव किए बिना मुनिदशा नहीं होती। भले ही आत्मज्ञान हो, मति-श्रुत-अवधि तीनों ज्ञान हो; किन्तु अन्तर्बाह्य वीतरागदशा न हो तो मुनिपना नहीं हो सकता।[१]

जिसे मुनिदशा हुई है, उसे समस्त सावद्ययोग का प्रत्याख्यान हो गया है। अन्तर में सातवें गुणस्थान के समय जो निर्विकल्पदशा प्रगट हुई, उसका नाम सामायिक है। आत्मध्यान में लीन होते ही मुनि के प्रथम सातवाँ गुणस्थान होता है, पश्चात् छठवाँ गुणस्थान आता है। निर्विकल्पदशा में महाव्रतरूप शुभविकल्प भी नहीं है। छठवें गुणस्थान में आने के पश्चात् पंच महाव्रतरूप शुभवृत्ति उत्पन्न होती है।[२]

छठवें गुणस्थान में२८ मूलगुणरूप शुभवृत्ति होती है। अन्तर में वीतराग भाव के बिना बाह्य में नग्नदशा हो, वह कोई मुनिदशा नहीं है, वह तो द्रव्यलिंग है।[३]

२८ मूलगुण निर्विकल्प सामायिक के भेद हैं। अभेद में निर्विकल्प अनुभव रूप एक ही मूलगुण है और विकल्प उत्पन्न होते ही वे २८ प्रकार के हैं। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प सामायिक में स्थिरता के समय इन २८ मूलगुणों के भेद का विकल्प नहीं रहता, किन्तु जब निर्विकल्पदशा में स्थिर नहीं रहा जाता, तब उस जीव को २८ मूलगुणरूप शुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, उस समय भी अकषायरूप वीतरागभाव विद्यमान रहता है।[४]

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प सामायिक सुवर्ण है और छठवें गुणस्थान में उत्पन्न २८ मूलगुणरूप शुभविकल्प सुवर्ण की पर्यायें हैं; क्योंकि शुभविकल्प उत्पन्न होने पर भी अन्तर में अकषायभाव विद्यमान ही है। वीतरागभाव टिका रहता है।[५]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-५२ २. वही, पृष्ठ-५२-५३
३. वही, पृष्ठ-५३ ४. वही, पृष्ठ-५४ ५. वही, पृष्ठ-५४

जब निर्विकल्प नहीं रहा जा सकता, तब छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुणरूप शुभराग उत्पन्न होता है। वहाँ शुभविकल्प उत्पन्न ही न हो, ऐसा हठ नहीं है। इस अपेक्षा से २८ मूलगुणों को सामायिक और संयम के भेद कहा गया हैं।

इसप्रकार छठवें गुणस्थान में रहते हुए शुभराग उत्पन्न होता है, उसका नाम छेदोपस्थापना है। जिनके निर्विकल्प संयम में छेद होकर २८ मूलगुण के पालनरूप वृत्ति उठती है, उन्हीं मुनिराज को छेदोपस्थापक कहा जाता है।[१]''

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब मुनिराज अप्रमत्त दशा से प्रमत्त दशा में आते हैं; तब यद्यपि उनके शुद्धोपयोग नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध परिणति तो विद्यमान ही है। इसकारण वे संयमी ही हैं।

यह एक प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्त से प्रमत्त में जाना छेदोपस्थापना चारित्र है या प्रमत्त से अप्रमत्त में आना ?

इसका उत्तर यह है कि यह छेदोपस्थापना चारित्र ६वें गुणस्थान से ९वें गुणस्थान तक होता है; अत: इसमें दोनों ही स्थितियाँ आ जाती हैं।

अप्रमत्त से प्रमत्त में जाना छेद है और प्रमत्त से अप्रमत्त में आना उपस्थापन है ह्न इसप्रकार दोनों स्थितियाँ मिलकर छेदोपस्थापन है।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि हमने तो सुना है कि मूलगुणों में दोष लगना छेद है और उसका परिमार्जन करना उपस्थापना है ?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वह व्यवहार छेदोपस्थापना है और यहाँ जो बात कही जा रही है, वह निश्चय छेदोपस्थापना की है।

इस संबंध में विशेष स्पष्टीकरण अगली गाथाओं में किया जायेगा।●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-५४

द्रव्य यदि त्रिकाल सत् है तो पर्याय भी स्वकाल की सत् है अर्थात् सती है। **ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८**

प्रवचनसार गाथा २१०

विगत गाथाओं में छेदोपस्थापना का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **दीक्षाचार्य गुरु के अतिरिक्त छेदोप-स्थापक गुरु भी होते हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा।।२१०।।

(हरिगीत)

दीक्षा गुरु जो दे प्रव्रज्या दो भेद युत जो छेद है।
छेदोपस्थापक शेष गुरु ही कहे हैं निर्यापका।।२१०।।

मुनिलिंग ग्रहण के समय दीक्षा देनेवाले गुरु दीक्षाचार्य है और जो भेदों (२८ मूलगुणों) में स्थापित करते हैं और संयम में छेद होने पर पुनर्स्थापित करते हैं ह्न इसप्रकार छेदद्वय में स्थापित करनेवाले शेष गुरु निर्यापक श्रमण हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''लिंग ग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक होने से दीक्षा देनेवाले आचार्य गुरु हैं और उसके बाद उसी समय सविकल्प छेदोपस्थापना के प्रतिपादक होने से छेद के प्रति उपस्थापक अर्थात् भेद में स्थापित करनेवाले निर्यापक हैं। इनके अतिरिक्त वे भी निर्यापक ही हैं, जो संयम के खण्डित होने पर उसी में पुनर्स्थापित करते हैं। इसप्रकार छेदोपस्थापक निर्यापक दीक्षाचार्य से भिन्न भी हो सकते हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव तत्त्व-प्रदीपिका के अनुसार ही करते हैं; तथापि '**अयमत्रार्थ:**' कहकर जो स्पष्टीकरण देते हैं; वह इसप्रकार हैं ह्न

''निर्विकल्प समाधिरूप सामायिक से एकदेशच्युति एकदेशछेद है

और सर्वथा च्युति सर्वदेशछेद है ह्न इसप्रकार एकदेश और सर्वदेश के भेद से छेद दो प्रकार है। जो उन दोनों में प्रायश्चित्त देकर, संवेग और वैराग्य को उत्पन्न करनेवाले परमागम के वचनों द्वारा संवरण करते हैं; वे निर्यापक शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहलाते हैं तथा दीक्षा देनेवाले आचार्य दीक्षागुरु हैं ह्न ऐसा अभिप्राय है।''

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा के भाव को १ छप्पय और २ दोहों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

(छप्पय)

तिनको मुनिपद गहनविषैं जे प्रथमाचारज।
सो गुरु को है नाम प्रवृज्यादायक आरज।।
अरु जब संजम छेद भंग होवै तामाहीं।
जो फिर थापन करै सो निरयापक कहवाहीं।।
यों दोय भेद गुरु के तहां दिच्छादायक एक ही।
छेदोपस्थापन के सुगुरु बाकी होंहिं अनेक ही।।७९।।

दीक्षार्थी को दीक्षा ग्रहण करने में जो सहायक होते हैं; उन प्रथम गुरुओं को दीक्षाचार्य कहते हैं और जब संयम का छेद या भंग होता है, उसमें से निकालकर पुन: स्वपद में स्थापित करते हैं, वे निर्यापक कहलाते हैं।

इसप्रकार गुरुओं के दो भेद हैं, उनमें दीक्षाचार्य एक ही होते हैं और छेदोपस्थापक निर्यापक गुरु अनेक होते हैं।

(दोहा)

दिच्छा गहने बाद जो, संजम होवै भंग।
एकदेश वा सर्व ही, ऐसो होय प्रसंग।।८०।।
तामें फिर जो थिर करहिं, जतिपथरीतिप्रमान।
ते निर्यापक नाम गुरु, जानो श्रमण सयान।।८१।।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद जो संयम भंग होता है, उसमें ऐसा होता है कि या तो एकदेश भंग होगा या सर्वदेश भंग होगा। उक्त स्थिति में जो मुनिपद के योग्य पुन: स्थिरता प्रदान करते हैं; वे श्रमण निर्यापक गुरु हैं।

पण्डित देवीदासजी भी इस गाथा के भाव को १ छप्पय में इसीप्रकार स्पष्ट कर देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''छेद दो प्रकार का है ह्न (१) निर्विकल्प संयम में २८ मूलगुणों का विकल्प उठना छेद है (२) छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुणों के पालन में कोई अतिचार लगे तो वह भी छेद है।

निर्विकल्प सामायिक में न रहकर कोई मुनिराज छठवें गुणस्थान में आते हैं तो उन्हें अन्य मुनि कहते हैं कि हे मुनि ! अन्तर निर्विकल्प अप्रमत्त भाव में झूलना ही वास्तव में मुनिदशा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मुनि का भाव नहीं है और ऐसे उपदेशपूर्वक वे मुनिराज पुन: निर्विकल्प हो जाते हैं, तब वे दूसरे मुनिराज छेदोपस्थापक कहलाते हैं तथा २८ मूलगुणों के पालन में कोई अतिचार लगे, तब विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कराके अतिचार दूर करावे, वे मुनिराज भी छेदोपस्थापक कहलाते हैं।[१]

छेदोपस्थापक के भी दो अर्थ हैं ह्न (१) जो छेद (भेद) के प्रति उपस्थापक है अर्थात् जो २८ मूलगुणरूप भेद को समझाकर उसमें स्थापित करता है, वह छेदोपस्थापक है, तथा (२) जो छेद के होने पर उपस्थापक है अर्थात् संयम के छिन्न (खण्डित) होने पर उसमें पुनः स्थापित करता है, वह भी छेदोपस्थापक है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि दीक्षार्थी के गुरु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे दीक्षाचार्य, जो उनकी पूरी जाँच-परख करके उन्हें दीक्षा देते हैं और दूसरे वे निर्यापक श्रमण, जो उन्हें २८ मूलगुणों का स्वरूप अच्छी तरह समझाकर उन्हें निर्दोष रीति से पालन करने में मार्गदर्शन करते हैं और दोष लगने पर प्रायश्चित्त विधान से उन्हें पुनर्स्थापित करते हैं।

दीक्षा तो एक बार का काम है; अत: एक आचार्य अनेक लोगों को दीक्षा दे सकता है; पर अधिक संख्या होने पर उन्हें निरंतर संभालनेवाले निर्यापक तो अनेक चाहिए।

अत: दीक्षाचार्य एक और निर्यापक अनेक हो सकते हैं। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-५६ २. वही, पृष्ठ-५७

प्रवचनसार गाथा २११-२१२

विगत गाथा में गुरु के रूप में दो प्रकार के गुरुओं की चर्चा की है ह्न एक दीक्षाचार्य दीक्षागुरु और दूसरे निर्यापक श्रमण शिक्षागुरु; अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **जब संयम में छेद होता है तो उसका निराकरण किस विधि से होता है ?**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ।।२११।।
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ।।२१२।।

(हरिगीत)

यदि प्रयत्नपूर्वक रहें पर देहिक क्रिया में छेद हो।
आलोचना द्वारा अरे उसका करें परिमार्जन ।।२११।।
किन्तु यदि यति छेद में उपयुक्त होकर भ्रष्ट हों।
तो योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करें आलोचना ।।२१२।।

यदि प्रथम प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में छेद होता है, दोष लगता है; तो आलोचनापूर्वक क्रिया करनी चाहिये।

यदि श्रमण छेद (दोष) में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जिनमत में व्यवहार कुशल श्रमण के पास जाकर अपने दोषों का निवेदन करके, वे जैसा उपदेश दें; वैसा करना चाहिए।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''संयम का छेद दो प्रकार का है ह्न बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी छेद बहिरंग छेद है और उपयोग सम्बन्धी छेद अन्तरंग छेद है।

यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा का कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो अन्तरंग छेद से सर्वथा रहित होने से आलोचना पूर्वक क्रिया से उसका प्रतिकार हो जाता है; किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होने से छेद में साक्षात् उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि में कुशल श्रमण के आश्रय से आलोचनापूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयम का प्रतिसंधान होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को २ छप्पय छन्दों में दोनों प्रकार के छेदों को बड़ी ही सरलता से स्पष्ट कर देते हैं।

(छप्पय)

जो मुनि जतन समेत, काय की क्रिया अरंभत।
शयनासन उठि चलन, तथा जोगासन थंभत।।
तहँ जो संजम घात होय, तब सो मुनिराई।
आपु अलोचनासहित, क्रियाकरि शुद्धि लहाई।।
यह बाहिज संजम भंग को, आपुहि आप सुदण्डविधि।
करि शुद्ध होंहि आचार में, जे मुनिवृन्द विशुद्धनिधि।।८२।।

यद्यपि मुनिराज शयनासन, उठने-बैठने आदि काय संबंधी क्रियाओं में आगमानुसार पूरी सावधानी रखते है; तथापि वहाँ भी कुछ न कुछ संयम का घात हो जाता है; तब वे मुनिराज अपने आप आलोचना करके शुद्धि कर लेते हैं। ये संयम का बाह्य भंग है, इसमें दण्डविधि स्वयं ही निश्चित करके शुद्धि की जाती है; क्योंकि वे मुनिराज अंतर से पूर्णत: शुद्ध ही हैं।

जिस मुनि का उपयोग, सुघट में भंग भया है।
रागादिक मल भाव, रतन में लागि गया है।।
तिनके हेत उपाय, जो जिनमारग के माहीं।
जती क्रिया में अतिप्रवीन, मुनिराज कहाहीं।।

तिनके ढिग जाय सो आपनो, दोष प्रकाशै विनय कर।
जो कहैं दंड सो करै तिमि, तब ह्वै शुद्धाचारधर।।८३।।

जिन मुनिराजों के उपयोग में शरीरादिक क्रिया के कारण भंग हुआ हो और उसके कारण रत्नत्रय में रागादिक मलभाव लग गया हो; उसकी शुद्धि के लिए जिनमार्ग की यति क्रिया में अति प्रवीण मुनिराज के पास जाकर विनयपूर्वक अपने दोषों को प्रकाशित करें और जो दण्ड विधान वे कहें, तदनुसार उस दोष का परिमार्जन करें, तब वे मुनिराज शुद्ध आचरण के धारण करनेवाले होंगे।

पण्डित देवीदासजी भी इन गाथाओं के भाव को दो इकतीसा सवैयों में इसीप्रकार प्रस्तुत करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनि के (मुनित्वोचित) शुद्धोपयोग अन्तरंग अथवा निश्चय प्रयत्न है तथा शुद्धोपयोग दशा में हठ आदि से रहित देहचेष्टादिक संबंधी वर्तता हुआ शुभोपयोग बहिरंग अथवा व्यवहारप्रयत्न है।

यदि शुद्धोपयोगदशा के बिना वर्तनेवाला शुभोपयोग हठपूर्वक हो तो ऐसा शुभोपयोग व्यवहारप्रयत्न को प्राप्त नहीं होता।

अन्तर में वीतरागभाव से रहित २८ मूलगुणों के पालन रूप शुभविकल्प छठवीं भूमिका के योग्य शुभोपयोग नहीं है; अपितु हठपूर्वक धारण किया गया शुभोपयोग है। सहज शुद्धोपयोग दशापूर्वक छठवें गुणस्थान में जो शुभविकल्प होते हैं, वे शुभोपयोगरूप व्यवहारप्रयत्न हैं।

अन्तर में कषाय रहित निश्चयप्रयत्न विद्यमान हो तो शुभभाव भी व्यवहारप्रयत्न कहलाते हैं; किन्तु वीतरागभाव के बिना मात्र शुभपना मुनिदशा का व्यवहारप्रयत्न भी नहीं कहलाता। अन्तर में वीतरागभाव टिकायें रखते हुए जो २८ मूलगुणों की वृत्ति उठती है; उसे व्यवहारप्रयत्न कहते हैं। वास्तव में मुनिदशा तो अन्तर वीतरागता के आधार से स्थित है।[१]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-६४-६५

यद्यपि छठवें गुणस्थान की भूमिका में कोई दोष नहीं लगा है; क्योंकि शरीर की चेष्टा आत्मा की नहीं है; अतः शरीर की चेष्टा का दोष आत्मा को नहीं है; किन्तु शुभविकल्प उठते ही स्व-आत्मा का लक्ष्य शरीर की चेष्टा पर गया, उससमय जो फेर-फार हुआ उसकी आलोचना की यहाँ बात है।

वास्तव में अन्तर स्वभाव में दोष नहीं लगा; क्योंकि अन्तर स्वभाव में दोष लगे या स्वसंवेदन की भूमिका नहीं रहे तो वह जीव अपने स्वभाव से च्युत हो गया है। ऐसे समय में वे जीव आचार्य के समीप जाकर निवेदनपूर्वक प्रायश्चित्त लेते हैं।[१]

अहो ! जिनके अन्तर में वैराग्य की धारा बहती हो, जिन्हें देखते ही ऐसा लगता हो कि यह तो जगत के परमेश्वर है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों से जिन्हें निरन्तर निर्विकल्प आनन्द की धारा बहती हो ह्न ऐसे अन्तर स्वरूप में झूलने वाले मुनिराज तो जगत के धर्मपिता हैं।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मुनि अवस्था में दो प्रकार के दोष लगते हैं। एक तो कायसंबंधी क्रियाओं में और दूसरे अपने उपयोग में। कायसंबंधी क्रियाओं में अनजाने में हो गया स्खलन बाह्य छेद है; क्योंकि इसमें जान-बूझकर कुछ नहीं किया गया है; अत: इसका परिमार्जन प्रतिक्रमणपूर्वक की गई आलोचना से ही हो जाता है।

दूसरे में उपयोग संबंधी स्खलन होता है। मुनिधर्म में निषेध्य कार्यों में उपयोग का रंजायमान होना ही अंतरंग छेद है। इसके परिमार्जन के लिए निर्यापक गुरु के पास जाकर स्वयं ही सब निवेदन करना होता है और वे जो भी प्रायश्चित्त दें, उसे सच्चे मन से स्वीकार करके पालन करना होता है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-६१

२. वही, पृष्ठ-६१

प्रवचनसार गाथा २१३-२१४

विगत गाथाओं में छिन्न संयम और उसके परिमार्जन की विधि बताई गई है। अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **छेद का आयतन परद्रव्य हैं और श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन स्वद्रव्य है; इसलिए परद्रव्य में प्रतिबंध निषेध्य है और स्वद्रव्य में प्रतिबंध विधेय है।**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ।।२१३।।
चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसणमुहम्हि।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ।।२१४।।

(हरिगीत)

हे श्रमणजन! अधिवास में या विवास में बसते हुए।
प्रतिबंध के परिहारपूर्वक छेदविरहित ही रहो।।२१३।।
रे ज्ञान-दर्शन में सदा प्रतिबद्ध एवं मूलगुण।
जो यत्नत: पालन करें बस हैं वही पूरण श्रमण।।२१४।।

हे श्रमणजनो ! अधिवास (आत्मवास अथवा गुरुओं के सहवास) में या विवास (गुरुओं के वास से भिन्न वास) में बसते हुए परद्रव्य संबंधी प्रतिबंधों (प्रतिबद्धता) का परिहरण करते हुए सदा श्रामण्य में छेद विहीन होकर विहरो।

जो श्रमण ज्ञान में और दर्शनादि में सदा प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में सावधानीपूर्वक वर्तन करता है; वह परिपूर्ण श्रामण्यवान है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सभी प्रकार के चेतन-अचेतन परद्रव्यों के प्रति प्रतिबंध (प्रति-बद्धता) उपयोग का उपरंजक होने से निरुपराग उपयोगरूप श्रामण्य के

छेद का आयतन है; क्योंकि उसके अभाव में ही अछिन्न श्रामण्य होता है। इसलिए आत्मा में ही आत्मा को स्थापित करके उसमें सदा ही बसते हुए अथवा गुरुओं के सहवास में बसते हुए अथवा गुरुओं के वास से भिन्न वास में बसते हुए, परद्रव्यों के प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) को छोड़ते हुए, हे श्रमण ! सदा श्रामण्य में छेदविहीन होकर वर्तन करो।

एक स्वद्रव्य-प्रतिबंध ही उपयोग का परिमार्जन करनेवाला होने से परिमार्जित उपयोगरूप श्रामण्य को परिपूर्णता का आयतन है। उसके सद्भाव में ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है। इसलिए ज्ञान में और दर्शनादिक में सदा प्रतिबद्ध रहकर मूलगुणों में सावधानीपूर्वक विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानदर्शनस्वभावी शुद्धात्मद्रव्य में प्रतिबद्ध होकर शुद्ध अस्तित्वमात्र से वर्तन करना चाहिए।''

यद्यपि इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि **'तथाहि'** कहकर कुछ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''मुनिराज, गुरु के पास जितने शास्त्र हों, उन्हें पढ़कर; गुरु से आज्ञा लेकर समानशीलवाले तपस्वियों के साथ, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से, भव्यों को आनन्द उत्पन्न करते हुए, तप-श्रुत-सत्व-एकत्व-सन्तोषरूप पाँच भावनाओं को भाते हुए; तीर्थंकर परमदेव, गणधरदेव आदि महापुरुषों के चरित्रों को स्वयं भाते हुए और दूसरों को बताते हुए विहार करते हैं।''

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को २ मनहरण कवित्तों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

(मनहरण)

जाके उर आतमीक ज्ञानजोति जगी वृन्द,
आप ही में आपको निहारै तिहूँपन मैं।
संजम के घात की न बात जाके बाकी रहै,
समतासुभाव जाको आवै न कथन में।।

सदाकाल सर्व परदर्वनि को त्यागैं रहै,
मुनिपद माहिं जो अखंड धीर मन में।
ऐसो जब होय तब चाहै गुरु पास रहै,
चाहै सो विहार करै जथाजोग वन में।।८४।।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि जिन मुनिराज के हृदय में आत्मा संबंधी ज्ञानज्योति जागृत हो गई है; वे मुनिराज बालपन, जवानी और वृद्धपन ह्न इन तीनों में सदा अपने को अपने में ही देखते हैं, जिनके जीवन में संयम का घात होता ही नहीं है और जिनके स्वभाव में अकथनीय समताभाव रहता है, जो सदा ही परद्रव्यों के प्रति ममत्व को त्यागे रहते हैं; वे धीर-वीर मुनिराज मुनिपद में अखण्डरूप से वर्तन करते हैं।

ऐसे मुनिराज चाहे गुरु के पास रहें, चाहे जहाँ वन में यथायोग्य विहार करें, उन्हें कोई प्रतिबंध नहीं है।

(मनहरण)

सम्यकदरशनादि अनंतगुननिजुत,
ज्ञान के सरूप जो विराजै निज आतमा।
ताही में सदैव परिवर्तत रहत और,
मूलगुन में है सावधान बात-बातमा।।
सोई मुनि मुनिपदवी में परिपूरन है,
अंतरंग बहिरंग दोनों भेद भांतमा।
वही अविकारी परदर्व परिहारी वृन्द,
वरै शिवनारी जो विशुद्ध सिद्ध आतमा।।८५।।

जो मुनिराज सम्यग्दर्शनादि अनंत गुणों से युक्त हैं और सदा निजात्मा के ज्ञानस्वभाव में विराजमान हैं; उसी में निरन्तर रहते हैं और बात-बात में (निरंतर) मूलगुणों में सावधान रहते हैं। वे मुनिराज ही अंतरंग और बहिरंग ह्न दोनों दृष्टि से मुनिपद में परिपूर्ण हैं। परद्रव्यों के प्रतिबंध से रहित वे अविकारी मुनिराज ही विशुद्ध जातिवाली शिवनारी का वरण करते हैं।

पण्डित देवीदासजी १ सवैया तेइसा और १ छप्पय ह्न इसप्रकार २ छन्दों में इन गाथाओं के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध उपादान की ओर से मुनिराज चिदानन्द आत्मस्वरूप के सन्मुख रहते हैं और निमित्त की ओर से श्रीगुरु के समीप उनके चरणों में अथवा गुरु की आज्ञा लेकर एकांत में बसते हैं; किन्तु स्वच्छन्दी नहीं होते। चिदानन्द स्वरूप की रमणता में उन्हें कोई प्रतिबंध (बाधा) नहीं है।[१]

जिनके अछेद शुद्धोपयोग हो और जिनकी चैतन्यद्रव्य में लीनता बनी रहे; वे अच्छिन्न श्रमण कहलाते है; अत: मुनिराज अपने आत्मा में आत्मा को स्थापित करके उसमें ही लीन रहते हैं।

यहाँ आत्मा को व्रतादि या रागादि में स्थापित करने की बात नहीं है; क्योंकि ये तो विकार हैं। उपादान की दृष्टि से एकमात्र निजशुद्धात्मा में ही रमने की बात है और निमित्त की अपेक्षा श्रीगुरु को गुरुरूप में स्थापित करके उनके समीप अथवा गुरु की आज्ञानुसार अन्य स्थान पर भी रहने की बात है, जिससे परद्रव्य का प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) नहीं रहे और शुद्धोपयोग भी अछेद वर्तता रहे।

इसप्रकार मुनिराज को परद्रव्यों के प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) का अभाव है।[२]

स्वद्रव्य में लीनतारूप शुद्धोपयोग ही एक आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। शुद्धोपयोग के अतिरिक्त किसी निमित्तरूप प्रतिबंध अथवा शुभराग से आत्मा को शुद्धता की प्राप्ति नहीं होती। शुद्धोपयोगरूप साधुपने की परिपूर्णता का स्थान एकमात्र स्वद्रव्य में लीनता ही है, किन्तु जिसे स्वद्रव्य का भान भी नहीं है, उसे मुनिपना कैसे हो सकता है ?[३]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-६३
२. वही, पृष्ठ-६४ ३. वही, पृष्ठ-६६

यद्यपि मुनिराज को २८ मूलगुणों के पालनरूप विकल्प होता है; किन्तु उनका मूल उद्देश्य तो शुद्धोपयोग टिकायें रखना है।[१]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि मुनिराज चाहे गुरुओं के साथ रहे या उनकी आज्ञा से अकेले विहार करें; किन्तु उन्हें अपने में तो सदा रहना ही चाहिए।

तात्पर्य यह है कि परपदार्थों से किसीप्रकार का राग या संसर्ग उनके मुनित्व को खण्डित करनेवाला है; अत: उन्हें उनसे पूरी तरह दूर ही रहना चाहिए।

मूलत: तो मुनिराज शुद्धोपयोगी ही होते हैं; किन्तु प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थान में आने पर वे शुभोपयोग में आ जाते हैं; अत: उनके जीवन में शुभराग भी देखने में आता है; किन्तु वह शुभराग २८ मूलगुणों को सावधानीपूर्वक पालने, जिनागम का गहराई से अध्ययन करने-कराने, उपदेश देने, तत्त्वचर्चा करने तक ही सीमित रहता है और रहना चाहिए; अन्यथा श्रामण्य खण्डित हुए बिना नहीं रहेगा।

जिनमंदिर निर्माण और पंचकल्याणक महोत्सव आदि गृहस्थोचित कार्यों में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से अपने चित्त को रंजायमान करना श्रामण्य को खंडित करनेवाले कार्य हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-६६

सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं; क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अत: यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अत: उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-३**

प्रवचनसार गाथा २१५-२१६

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि मुनिजनों को हिंसायतन होने से परद्रव्य का प्रतिबंध हेय है और स्वद्रव्य में प्रतिबंध उपादेय है।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि **अत्यन्त निकट के सूक्ष्म परद्रव्य का प्रतिबंध भी मुनिपने के छेद का आयतन होने से हेय ही है। साथ में यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि छेद क्या है?**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ।।२१५।।
अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा ।।२१६।।

(हरिगीत)

आवास में उपवास में आहार विकथा उपधि में।
श्रमणजन व विहार में प्रतिबंध न चाहें श्रमण।।२१५।।
शयन आसन खड़े रहना गमन आदिक क्रिया में।
यदि अयत्नाचार है तो सदा हिंसा जानना।।२१६।।

मुनिराज आहार में, विहार में, आवास में, उपवास में, उपधि (परिग्रह) में, अन्य मुनिराजों में अथवा विकथा में प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) नहीं चाहते।

मुनिराजों की; शयन, आसन, खड़े रहने और गमन आदि में असावधानी पूर्वक की गई चर्या सदा सतत हिंसा मानी गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''(१) मुनिपने के सहकारी कारणभूत शरीर के निर्वाह मात्र के लिए ग्रहण किए जानेवाले आहार में, (२) जिसमें शरीर के निर्वाह का विरोध

न आवे और शुद्धात्मद्रव्य में अविकारी निस्तरंग स्थिरता होती जावे ह्न ऐसे अनशन में, (३) नीरंग और निस्तरंग अंतरंग द्रव्य की प्रसिद्धि के लिए सेवन किया जानेवाले ऊँचे पर्वतों की गुफाओं के निवास में, (४) शरीर के निर्वाह के कारणभूत आहार के लिए जानेवाले विहार में, (५) श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है ह्न ऐसे देह मात्र परिग्रह में, (६) परस्पर में बोध्य-बोधकभाव से जिनका कथंचित् परिचय है, ऐसे अन्य मुनिजनों में और (७) शब्दरूप पुद्गलों के संबंध से, जिसमें चैतन्यरूप भित्ति का भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्य विरुद्ध कथा में भी मुनिराजों के लिए प्रतिबंध निषिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि इनके संबंध में किए जानेवाले विकल्पों से भी चित्तभूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

वस्तुत: अशुद्धोपयोग छेद है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है। वह अशुद्धोपयोग ही हिंसा है; क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हनन होता है।

इसलिए अशुद्धोपयोग बिना नहीं होनेवाली शयन, आसन, स्थान और गमन आदि क्रियाओं में असावधानीपूर्वक आचरण धारावाही हिंसा है, जो छेद से अनन्य ही है, छेदरूप ही है, छेद से भिन्न नहीं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि **'अयमत्रार्थ:'** कहकर जो विशेष बात कहते हैं; वह इसप्रकार है ह्न

''आगम में बताई गई विधि के विरुद्ध आहार-विहारादि तो पहले से ही निषिद्ध है; यहाँ तो यह कह रहे हैं कि योग्य आहार-विहारादि में भी ममत्व नहीं करना चाहिए।

मुनिराजों द्वारा बाह्य व्यापारादि शत्रुओं को तो पहले ही छोड़ दिया गया है; किन्तु भोजन, शयन आदि व्यापार छोड़ना संभव नहीं है। इसलिए अंतरंग क्रोधादि शत्रुओं के निग्रह के लिए, उनके संदर्भ में भी क्लेश नहीं करना चाहिए।''

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी २ मनहरण और ५ दोहे ह्न इसप्रकार ७ छन्दों में और पण्डित देवीदासजी १ छप्पय, १ दोहा और १ कुण्डलिया ह्न इसप्रकार ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें लगभग सम्पूर्ण विषयवस्तु आ गई है; अत: वे मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उपादान में शुद्धभाव प्रगट हो तब बाह्य में निमित्त कैसे होते हैं? यह भी जानने योग्य है। अन्दर में चैतन्यलीनता पर ही उपयोग स्थिर हुआ है; अतः बाह्य में वस्त्रादि के अवलंबन की वृत्ति नहीं रहती।

साधुपद तो पंचपरमेष्ठी पद है। जिन मुनिराजों के अन्तर में ज्ञायक-स्वभाव का दृढ़ आश्रय वर्तता है, उन मुनिराजों को छठवें गुणस्थान में आहारादि की वृत्ति उठती है, वहाँ शास्त्र आज्ञा से विरुद्ध अशुभभाव तो नहीं होता; किन्तु शास्त्र आज्ञानुसार जो शुभभाव है, उनका भी प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) नहीं है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि यद्यपि मुनिराजों का चेतन-अचेतन पर-पदार्थों के साथ कोई संबंध नहीं रहा है; तथापि शरीर की स्थिति के लिए आहार, अविकारी निस्तरंग स्थिरता के लिए शरीर निर्वाह का अविरोधी अनशन, निर्विघ्न आत्मसाधना के लिए किया जानेवाला गिरिगुफा में निवास, आहार के लिए जाने के लिए विहार, मुनिदशारूप देहमात्र परिग्रह, तत्त्वचर्चा के कारण परिचित मुनिजन और शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य विषयों की कथा ह्न ये सात बातें ऐसी हैं कि जो सन्तों के जीवन में छटवें गुणस्थान की भूमिका में हो सकती हैं; होती हैं।

आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि यदि इनसे बच पाना संभव न हो तो भी उनके सम्बन्ध में होनेवाले विकल्पों से चित्त भूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-७०

ये सभी अशुद्धोपयोग की दशा में होनेवाली क्रियाएँ हैं और यहाँ कहा जा रहा है कि अशुद्धोपयोग छेद है, हिंसा है; अत: यदि उक्त सात बातों को छोड़ना संभव न हो तो उनमें सावधानी वर्तना अत्यन्त आवश्यक है।

ध्यान देने की बात यह है कि जब अशन, अनशन, गिरिगुफा के निवास, आहार के लिए विहार, देहमात्र परिग्रह, तत्त्वचर्चा के लिए परिचय और बोलना ह्न ये भी निषेध्य हैं; तब देह पोषण के लिए अशन (आहार), प्रतिष्ठा के लिए अनशन, भीड़भाड़ वाले स्थानों में निवास, अनावश्यक अनर्गल विहार, मुनिदशा में पूर्णत: अस्वीकृत परिग्रह, अज्ञानी-अव्रतियों से घना परिचय और व्यर्थ की कथाओं से मनोरंजन ह्न ये सब मुनिदशा में कैसे संभव हैं ?

जब उक्त कार्य भी संभव नहीं है तो फिर मंदिर निर्माण आदि गृहस्थोचित कार्यों को करना-कराना तो बहुत दूर, उनकी अनुमोदना भी कैसे हो सकती है ?

यह एक गंभीरता से विचार करने की बात है। ●

चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो पाता; तब तक मुख्यत: मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणतिरूप परिणत हो जायेगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्यायरूप परिणमित हो जायेगा।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१०

प्रवचनसार गाथा २१७

विगत गाथाओं में सभी प्रकार के छेदों का निषेध करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि **छेद अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।२१७।।

(हरिगीत)

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से।।२१७।।

जीव मरे या जिये, किन्तु असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले के हिंसा निश्चित ही है; क्योंकि सावधानी पूर्वक समितियों के पालन करनेवालों को बहिरंग द्रव्यहिंसा मात्र से बंध नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है और परप्राणों का व्यपरोपण (विच्छेद) बहिरंग छेद है। इनमें अंतरंग छेद ही बलवान है, बहिरंग नहीं; क्योंकि परप्राणों का छेद हो या न हो, अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाले असावधानीपूर्वक आचरण से जानने में आनेवाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा का सद्भाव सुनिश्चित है।

अशुद्धोपयोग के बिना होनेवाले सावधानीपूर्वक आचरण से प्रसिद्ध होनेवाले अशुद्धोपयोग के अभाववाले मुनिराजों को परप्राणों के विच्छेद के सद्भाव में भी बंध का अभाव होने से हिंसा का अभाव सुनिश्चित है।

बहिरंग छेद से अंतरंग छेद ही बलवान है ह्न ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद

अंतरंग छेद का आयतन मात्र है। इसलिए उसे स्वीकार तो करना ही चाहिए।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करने के लिए तत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करते हैं; तथापि **'अयमत्रार्थ:'** कहकर निश्चय और व्यवहार हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''अपने आत्मा में लीनतारूप निश्चयप्राणों के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा है और रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है। इसप्रकार हिंसा दो प्रकार की होती है। किन्तु विशेष यह है कि बाह्यहिंसा हो या न हो स्वस्थभावना (आत्मलीनता) रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर निश्चयहिंसा नियम से होती है; इसलिए निश्चय हिंसा ही मुख्य है।''

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ छप्पय और ६ दोहे ह्न इसप्रकार ७ छन्दों में और पण्डित देवीदासजी १ सवैया इकतीसा में प्रस्तुत करते हैं; उनमें से दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

हिंसा दोय प्रकार है, अंतर बाहिजरूप।
ताको भेद लिखों यहाँ, ज्यों भाषी जिनभूप ।।९४।।
अंतरभाव अशुद्धसुकरि, जो मुनि वरतत होय।
घातत शुद्धसुभाव निज, प्रबल सुहिंसक सोय ।।९५।।
अरु बाहिज बिनु जतन जो, करै आचरन आप।
तहँ पर जिय को घात हो, वा मति होहु कदाप ।।९६।।
अंतर निजहिंसा करै, अजतनचारी धार।
ताको मुनिपद भंग है, यह निहचै निरधार ।।९७।।
जे मुनि शुद्धपयोगजुत ज्ञानप्रान निजरूप।
ताकी रच्छा करत नित, निरखत रहत सुरूप ।।९८।।
तिनकी कायक्रिया सकल, समितिसहित नित जान।
तहँ पर कहूँ मरै तऊ, करम न बँधै निदान ।।९९।।

अंतर और बाह्य के रूप में हिंसा दो प्रकार की है। उसके संदर्भ में जिनेन्द्र भगवान ने जैसा कहा है, तदनुसार उसके रहस्य को मैं भी यहाँ लिखता हूँ।

जो मुनिराज अन्तर में अशुद्धोपयोगरूप वर्तन कर रहे हों; वे अपने शुद्धस्वभाव के घातक होने से प्रबल हिंसक हैं और जो मुनिराज असावधानीपूर्वक आचरण कर रहे हैं, उनसे परजीवों का घात होवे, चाहे न हो; तो भी वे अयत्नाचारी होने से अन्तर में अपनी हिंसा कर रहे हैं। अत: निश्चय से उनका मुनि पद भंग ही है ह्न यह सुनिश्चित करो।

जो मुनिराज शुद्धोपयोग से युक्त होकर अपने ज्ञानप्राणों की निरन्तर रक्षा करते हैं; उनकी समस्त शारीरिक क्रियायें समितिरूप होती हैं; ऐसी स्थिति में कदाचित जीवों का मरण भी हो जावे तो भी बंध नहीं होता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज के भूमिकानुसार शुभविकल्पों की विद्यमानता में जो विशेष राग होता है, वह प्रमादभाव होने से हिंसा का कारण है। बाह्य में परजीवों की हिंसा न भी हो; किन्तु अन्तर में प्रमादभाव विद्यमान हो तो हिंसा का दोष लगता ही है।[१]

स्वभाव के आश्रय से जितनी वीतरागता प्रगट हुई है, वह निश्चय प्रयत्न है और भूमिकानुसार जो शुभविकल्प होता है, वह व्यवहार प्रयत्न है तथा यदि भूमिका से बाहर का विकल्प उठे तो वह अप्रयत आचार होने से प्रमाद है। यही हिंसा है।[२]

पर जीव का घात हो या न हो, उससे हिंसा-अहिंसा का कोई संबंध नहीं है। किसी को तीव्र राग हो और सामनेवाला जीव स्वयं मर जाए तो उस जीव की मृत्यु होने से इस जीव को हिंसा नहीं है; अपितु अन्तर में विद्यमान तीव्र राग भाव के कारण हिंसा है, पाप है।

इसीप्रकार पर जीव का घात न हो; किन्तु अन्तर में कषायभावों की विद्यमानता हो, तो वह हिंसा कहलाती है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-७९ २. वही, पृष्ठ-८०

इससे विपरीत मुनिराज के पैर से किसी जीव का मरण हो जाये और उनके अन्तर में किसीप्रकार का कषायभाव न हो तो उन्हें हिंसा नहीं है।[१]

ज्ञायक निर्विकल्प आत्मा में जितनी अभेद परिणति हुई है, उतनी निश्चय समिति है अथवा शुद्धात्मस्वरूप में (मुनित्वोचित) सम्यक् परिणति निश्चय समिति है और इस दशा में वर्तनेवाली ईर्या-भाषादि संबंधी शुभपरिणति व्यवहार समिति है।

यदि शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक् परिणतिरूप दशा न हो तो वहाँ वर्तनेवाली शुभपरिणति हठसहित होती है, तब वह व्यवहार समिति नाम भी प्राप्त नहीं करती।[२]

छठवें गुणस्थान में भूमिका योग्य राग हो तो वीतरागता टिकी रहती है, वह अहिंसा धर्म है; किन्तु शुभराग की अति हो जावे तो अहिंसा धर्म नहीं है।[३]''

प्रश्न ह्न यहाँ यह कहा जा रहा है कि अशुद्धोपयोग के अभाववाले मुनिराजों के परप्राणों के विच्छेद के सद्भाव में भी हिंसा का अभाव सुनिश्चित है।

यहाँ प्रश्न यह है कि मुनिराजों से शुद्धोपयोग के काल में परप्राणों का विच्छेद कैसे हो सकता है ? इसीप्रकार यत्नाचार अर्थात् सावधानीपूर्वक आचरण-ईर्यासमितिपूर्वक गमनागमन, हित-मित-प्रिय संभाषण के काल में शुद्धोपयोग भी कैसे हो सकता है ?''

उत्तर ह्न इस प्रश्न में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के हृदय को भी आन्दोलित किया था। गंभीर मंथन के उपरान्त उन्हें जो समाधान प्राप्त हुआ; उसे उन्होंने इस रूप में प्रस्तुत किया ह्न

''छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार आदि की जो शुभवृत्ति उठती है, उसे चरणानुयोग में अशुद्धोपयोग नहीं कहा और न उसे अन्तरंग छेद कहा है; किन्तु अध:कर्मी आहार लेने की वृत्ति उठे तो अशुद्धोपयोग होने से वह अन्तरंग छेद है ह्न ऐसा कहा गया है।[४]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-८० २. वही, पृष्ठ-८१
३. वही, पृष्ठ-८३ ४. वही, पृष्ठ-८१

जैनदर्शन में तो रागभाव की उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है। छठवीं भूमिका (गुणस्थान) में जो शुभराग है, वह भी परमार्थ से तो हिंसा ही है; किन्तु यहाँ चरणानुयोग में भूमिका के बाहर का राग हो उसे ही हिंसा कहा है। वास्तव में एक वीतरागभाव ही अहिंसा धर्म है।[१]''

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि हिंसा और अहिंसा का संबंध जीवों के जीवन और मरण से नहीं है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धता-अशुद्धता से है।

पहली बात तो यह है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शुभाशुभभावरूप अशुद्धोपयोग शुद्धोपयोग का घातक होने से, रागादिभावरूप होने से हिंसा ही है।

दूसरी बात यह है कि चाहे जीव मरें या न मरें, पर अयत्नाचार (असावधानी) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवालों को बंध अवश्य होता है।

तीसरी बात यह है कि सावधानीपूर्वक आगमानुसार प्रवृत्ति करनेवालों के निमित्त से कदाचित् जीवों का घात भी क्यों न हो जावे; तब भी उन्हें जीवों के घात के कारण रंचमात्र भी बंध नहीं होता।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में इसी बात को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करनेवाली दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं हैं।

गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।।१५।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो।।१६।।

(हरिगीत)

हो गमन ईर्यासमिति से पर पैर के संयोग से।
हों जीव बाधित या मरण हो फिर भी उनके योग से।।१५।।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-८३

ना बंध हो उस निमित से ऐसा कहा जिनशास्त्र में।
क्योंकि मूर्च्छा परिग्रह अध्यात्म के आधार में।।१६।।

मूर्च्छा को ही परिग्रह कहे जाने के समान ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए मुनिराज के द्वारा कहीं जाने के लिए उठाये गये पैर से किसी छोटे प्राणी को बाधा पहुँचने पर या उसके मर जाने पर भी उन मुनिराज को उस प्राणीघात के निमित्त से किंचित्मात्र भी बंध नहीं होता ह्न ऐसा आगम में कहा है।

गाथाओं का उपर्युक्त सामान्य अर्थ करने के उपरान्त आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में दृष्टान्त (उदाहरण) और दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मूर्च्छा परिग्रह: ह्न इस सूत्र में कहे अनुसार जिसप्रकार अध्यात्मदृष्टि से मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है, बाह्य परिग्रह के अनुसार नहीं; उसीप्रकार सावधानीपूर्वक गमनादि करते हुए सूक्ष्म जन्तुओं के घात हो जाने पर भी, जितने अंश में आत्मलीनतारूप परिणाम से चलनरूप रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा है; उतने अंश में बंध है, पैरों के संघट्टन (रगड़ना) मात्र से बंध नहीं है। उन मुनिराजों के रागादि परिणति लक्षण भावहिंसा नहीं है, इसकारण बंध भी नहीं है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन गाथाओं में उसी बात को सोदाहरण दुहरा दिया गया है; जो बात २१७वीं गाथा में कही जा चुकी है। ●

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों के चित्त को वर्तमान आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ विचलित नहीं कर पाती हैं। लौकिक घटनाएँ उन्हें आन्दोलित नहीं करतीं, वे मात्र उन्हें जानते हैं, वे उनके ज्ञान का मात्र ज्ञेय बनकर रह जाती हैं। भूमिकानुसार कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जावें तो वे उसे भी ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७

प्रवचनसार गाथा २१८

२१७वीं गाथा में कहा है कि अंतरंग छेद ही बलवान है और मूलत: वही बंध का कारण है। अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि **वह अंतरंग छेद सर्वथा त्यागने योग्य है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।।२१८।।

(हरिगीत)

जलकमलवत निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से।
पर अयत्नाचारि तो षट्काय का हिंसक कहा।।२१८।।

असावधानीपूर्वक आचरण करनेवाले श्रमण, छहों काय संबंधी जीवों का वध करनेवाले माने गये हैं और यदि वे सदा सावधानीपूर्वक आचरण करते हैं तो जल में कमल की भांति निर्लेप कहे गये हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाले अप्रयत-आचार (असावधानीपूर्वक आचरण) के द्वारा ज्ञात होनेवाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव हिंसक ही है; क्योंकि छह काय के प्राणों के व्यपरोपण के आश्रय से होनेवाले बंध की प्रसिद्धि है। और अशुद्धोपयोग के बिना होनेवाले प्रयत-आचार (सावधानीपूर्वक आचरण) के द्वारा ज्ञात होनेवाले अशुद्धोपयोग का असद्भाव अहिंसक ही है; क्योंकि पर के आश्रय से होनेवाले बंध का अभाव होने से जल में झूलते हुए कमल की भांति निर्लेपता (अबंध) की प्रसिद्धि है।

इसलिए जिन-जिन प्रकारों से अंतरंग छेद का आयतनभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषेध्य है; उन-उन सभी प्रकारों से अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद भी पूर्णत: निषेध्य है, त्यागने योग्य है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में अयताचार का अर्थ निर्मल आत्मानुभूतिरूप भावना लक्षण प्रयत्न से रहित किया है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति के प्रति असावधान होना ही अयताचार है।

उक्त गाथा का अर्थ लिखने के उपरान्त तात्पर्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं ह्न

''शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण शुद्धोपयोगपरिणत पुरुष के, छह काय के जीव समूहरूप लोक में विचरण करते हुए, यद्यपि बाह्य में द्रव्यहिंसा है; तथापि निश्चय हिंसा नहीं है। इसलिए शुद्ध परमात्मा की भावना के बल से निश्चय हिंसा पूर्णत: छोड़ देना चाहिए।''

यद्यपि अयत्नाचार का अर्थ असावधानीपूर्वक आचरण और यत्नाचार का अर्थ सावधानी पूर्वक आचरण माना जाता है; तथापि यह अर्थ व्यवहारनय का कथन ही है; क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा तो अयत्नाचार का अर्थ आत्मा के प्रति असावधानी और यत्नाचार का अर्थ आत्मा के प्रति सावधानी ही है।

आचार्य जयसेन के उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण और पण्डित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया में लगभग समानरूप से ही प्रस्तुत करते हैं। वृन्दावनदासजी कृत मनहरण छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

जतन समेत जाको आचरन नाहीं ऐसे,
मुनि को तो उपयोग निहचै समल है।
सो तो षटकाय जीव बाधाकरि बाँधे कर्म,
ऐसे जिनचंद वृन्द भाषत विमल है।।
और जो मुनीश सदाकाल मुनिक्रिया विषैं,
सावधान आचरन करत विमल है।
तहाँ घात होत हू न बँधे कर्मबंध ताकै,
रहै सो अलेप जथा पानी में कमल है।।१००।।

जिन मुनिराजों का आचरण सावधानीपूर्वक नहीं वर्तता; उन मुनिराजों का उपयोग समल ही होता है। वे षट्काय के जीव को बाधा पहुँचानेवाले होने से कर्मों को बाँधते हैं ह्न ऐसा कर्ममल से रहित जिनेन्द्र भगवान ने कहा है और जो मुनिराज मुनि के योग्य क्रियाओं में सदा सावधानीपूर्वक निर्मल आचरण करते हैं; उनके द्वारा जीवों का घात होने पर भी उन्हें बंध नहीं होता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ह्न

''मुनिराजों २८ मुलगुण आदि संबंधी शुभराग छठवीं भूमिका में मर्यादा प्रमाण होता है। उसमें तीव्रराग की अति हो जाए तो मुनिराज को छह काय का हिंसक कहा है; इसलिये मुनिपने में तीव्रराग नहीं हो सकता। मुनिपने में छह काय के जीवों की हिंसा का निषेध वर्तता है माने तत्संबंधी तीव्रराग का निषेध वर्तता है।[१]

अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक बाह्य में वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर दशा का नाम मुनिदशा है। इसके बगैर वीतराग मार्ग में अन्य कोई मुनिपना त्रिकाल संभव नहीं है।[२]''

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि अयत्नाचारी श्रमण के निमित्त से चाहे जीव मरे, चाहे न मरे; पर उसे छहकाय के जीवों का हिंसक माना गया है। इसीप्रकार यत्नाचारी श्रमण के निमित्त से भले ही सूक्ष्मजीवों का घात हो जाये; तब भी वह जल में रहते हुए भी जल से भिन्न कमल के समान अहिंसक ही है।

अयत्नाचार संबंधी वृत्ति (आत्मा की अरुचि) और प्रवृत्ति (असावधानीपूर्वक आचरण) अंतरंग छेद है और जीवों का वध आदि बहिरंग छेद है। ध्यान रखने की बात यह है कि बहिरंग छेद से अंतरंग छेद बलवान है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-८६
२. वही, पृष्ठ-८६

प्रवचनसार गाथा २१९

विगत गाथाओं में जीवों के प्राणव्यपरोपणसंबंधी छेद की बात स्पष्ट की; अब इस गाथा में परिग्रह संबंधी अंतरंग छेद की बात करते हैं, उसके निषेध का उपदेश देते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।।२१९।।

(हरिगीत)

बंध हो या न भी हो जिय मरे तन की क्रिया से।
पर परिग्रह से बंध हो बस उसे छोड़े श्रमणजन।।२१९।।

कायचेष्टापूर्वक जीवों के मरने पर बंध हो अथवा नहीं भी हो; किन्तु उपधि अर्थात् परिग्रह से तो बंध होता ही है; इसलिए श्रमणों (अरहंतदेवों) ने सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ा है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार कायव्यापारपूर्वक परजीवों के घात को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकान्तिक बंधरूप होने से छेदपना अनैकान्तिक (अनिश्चित ह्न हो भी और नहीं भी हो ह्न ऐसा) माना गया है; उसप्रकार की बात परिग्रह के साथ नहीं है; क्योंकि परिग्रह अशुद्धोपयोग के बिना सर्वथा नहीं होता।

परिग्रह का अशुद्धोपयोग के साथ सर्वथा अविनाभावत्व होने से ऐकान्तिक (नियम से अवश्यंभावी) अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक (नियम से) बंधरूप है। इसलिए परिग्रह को छेदपना भी ऐकान्तिक (अनिवार्य) ही है।

यही कारण है कि परम श्रमण अरहंत भगवन्तों ने पहले से ही स्वयं परिग्रह को छोड़ा है। इसलिए दूसरे श्रमणों को भी अंतरंग छेद के समान

समस्त परिग्रह छोड़ना योग्य है; क्योंकि परिग्रह अंतरंग छेद के बिना नहीं होता।''

तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन भी इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

उक्त गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी २ मनहरण छन्दों में और पंडित देवीदासजी १ छप्पय में स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। पंडित देवीदासजी के छप्पय में तो बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो पाई है; किन्तु वृन्दावनदासजी के छन्दों में बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई है।

कविवर वृन्दावनदासजी के वे छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(मनहरण)

कायक्रियामाहिं जीवघात होत कर्मबंध,
होहु वा न होहु यहां अनेकांत पच्छ है।
पै परिग्रहसों ध्रुवरूप कर्मबंध बंधै,
यह तो अबाधपच्छ निहचै विलच्छ है।।
जातैं अनुराग विना याको न गहन होत,
याहीसेती भंग होत संजम को कच्छ है।
ताहीं तैं प्रथम महामुनि सब त्यागैं संग,
पावैं तब उभैविधि संजम जो स्वच्छ है।।१०१।।

काय की हलन-चलन क्रिया से सूक्ष्म जीवों का घात होने पर भी कर्मों का बंध होगा ही ह्न ऐसा नियम नहीं है; अपितु कर्मबंध होने न होने के संबंध में अनेकान्त है। तात्पर्य यह है कि उपयोग अशुद्ध होने पर बंध होता है और नहीं होने पर नहीं होता है; किन्तु परिग्रह के संबंध में ऐसी बात नहीं है। परिग्रह के होने पर तो बंध होता ही है; क्योंकि अनुराग के बिना परिग्रह का ग्रहण होता ही नहीं है और इससे संयम का भंग हो जाता है; इसीलिए मुनिराज सबसे पहले परिग्रह का पूर्णत: त्याग कर देते हैं और उससे संयम के बहिरंग और अंतरंग दोनों पक्ष स्वच्छ हो जाते हैं।

(मनहरण)

अंतर के भाव बिना काय ही की क्रियाकरि,
संग को गहन नाहिं काहूं भाँति होत है।
अरहंत आदि ने प्रथम याको त्याग कीन्हों,
सोई मग मुनिनि कों चलिबो उदोत है।।
शुद्धभाव घातो भावै रातो परिग्रहमाहिं,
दोऊ शुद्धसंजम को घाति मूल खोत है।
ऐसो निरधार तुम थोरे ही में जानो वृन्द,
याके धारे जागै नाहिं शुद्ध ज्ञानजोत है।।१०२।।

अंतरंग भावों के बिना मात्र शरीर की क्रिया से परिग्रह का ग्रहण किसी भी स्थिति में नहीं होता। इसलिए अरहंतादि ने सबसे पहले परिग्रह का त्याग किया और यही रास्ता मुनियों को बताया। जो मुनिराज परिग्रह में रत होते हैं, उनके शुद्धभावों का घात हो जाता है; क्योंकि बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार के परिग्रह शुद्ध संयम के घात करने के मूल स्रोत हैं।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि इस बात को तुम थोड़े कहने में ही समझ लो; क्योंकि परिग्रह का धारण करने पर ज्ञान की ज्योति जागृत नहीं होती अर्थात् केवलज्ञान नहीं होता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शरीर की किसी भी चेष्टा से पर प्राणियों का घात हो, वहाँ मुनिराज को प्रमादभाव नहीं हो तो कोई दोष नहीं लगता; किन्तु तीव्र राग होने से तत्संबंधी दोष अवश्य है।

इससे विपरीत वस्त्रादि परिग्रह की उपस्थिति में ऐसा नहीं है। वस्त्रादि परिग्रह की उपस्थिति ही अन्तर में विद्यमान ममत्वभाव को स्पष्ट करती है। इससे जीव को बंध होता ही है, इसलिये योगियों ने समस्त परिग्रह को छोड़ दिया है।[१]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-८९

वस्तुस्थिति का यही स्वरूप होने के कारण श्रमणों ने भी अरहन्तों के समान समस्त परिग्रह को छोड़ दिया है। यही मुनिमार्ग की अखण्ड धारा है। इससे विरुद्ध मुनिदशा माननेवाला वीतराग मार्ग की निंदा करता है।[१]

तीर्थंकर भगवान उसी भव से मोक्ष जाते हैं, यह बात निश्चित है; तथापि बाह्य में जबतक समस्त परिग्रह को छोड़कर, वे वीतरागी मुनिपना प्राप्त नहीं करते, तबतक उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता।

तीर्थंकर भगवंतों ने भी इसी दशापूर्वक केवलज्ञान प्राप्त किया है और दूसरे जीव इससे उल्टा मानें तो वे तीर्थंकरों के मार्ग से बाहर ही है।[२]

कोई जीव अभक्ष्य आहार ग्रहण करता हो और कहें की हमें अन्तर में अशुभभाव नहीं है, तो यह संभव नहीं ? अशुभभाव के बिना ऐसे निमित्तों पर लक्ष जा ही नहीं सकता।

उसीप्रकार तीव्र राग के बिना वस्त्रादि ग्रहण करने का भाव हो ही नहीं सकता और इस तीव्र राग के साथ मुनिपना भी नहीं हो सकता।[३]

अहाहा ! संतों ने जैसा मुक्तिमार्ग कहा है, वह वैसा ही है, उसमें कोई अपवाद नहीं है, वह विपरीत स्वरूप भी नहीं है। जो व्यक्ति इस मार्ग का विरोध करेगा, वह संसार में रखड़ेगा; किन्तु अन्य रीति से यह मार्ग कदापि संभव नहीं है।[४]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि **मारने के भाव बिना काया के निमित्त से जीवों का घात तो हो सकता है; पर रागादि के बिना परिग्रह का संग्रह नहीं हो सकता; इसलिए ऐसा तो कदाचित् हो सकता है कि जीवों का घात होने पर भी बंध न हो; पर ऐसा कभी नहीं हो सकता कि परिग्रह रखने पर भी बंध न हो। इसलिए सबसे पहले सम्पूर्ण परिग्रह को पूर्णत: त्याग देना चाहिए।**

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-९०
२. वही, पृष्ठ-९१
३. वही, पृष्ठ-९१
४. वही, पृष्ठ-९२

इसके बाद तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें वे कहते हैं कि इस संबंध में जो कुछ कहा जा सकता था, वह सब कुछ कह दिया है।

छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं,
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ।।१४।।

(दोहा)

जो कहने के योग्य है कहा गया वह सब्ब।
इतने से ही चेत लो अति से क्या है अब्ब ।।१४।।

जो कहने योग्य था; वह सब अशेषरूप से कह दिया गया है, इतने मात्र से ही कोई चेत जाय, समझ ले तो समझ ले और न समझे तो न समझे; अब वाणी के अतिविस्तार से क्या लाभ है ? क्योंकि निश्चेतन (जड़वत्, नासमझ) के व्यामोह का जाल वास्तव में अति दुस्तर है।

तात्पर्य यह है कि नासमझों को समझाना अत्यन्त कठिन है।

यह छन्द अत्यंत मार्मिक है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में तो २७८ छन्द लिखे हैं; किन्तु प्रवचनसार की टीका में मात्र २२ छन्द ही लिखे हैं। उन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण छन्द यह भी है।

इस कलश में आचार्यदेव कह रहे हैं कि जो समझाया जा सकता था; वह हमने समझा दिया। **जिन्हें समझ में आना होगा, उन्हें इतने से ही समझ में आ जाएगा और जिन्हें समझ में नहीं आना है; उनके लिए कितना ही विस्तार क्यों न करें, कुछ होनेवाला नहीं है; अतएव अब हम इस चर्चा के विस्तार में जाने से विराम लेते हैं।** ●

प्रवचनसार गाथा २२०

विगत गाथा में बहिरंग और अंतरंग परिग्रह का निषेध किया गया है और अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि **बहिरंग परिग्रह का निषेध अंतरंग परिग्रह का ही निषेध है**। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्ध य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो।।२२०।।

(हरिगीत)

यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो।
तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो।।२२०।।

यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती और जो भाव से अविशुद्ध है, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया हैंह्न

''जिसप्रकार छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जानेवाली लालिमा रूप अशुद्धता को नहीं हटाया जा सकता; उसीप्रकार बहिरंग परिग्रह के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद का परिहार संभव नही है और अंतरंग छेद के सद्भाव में शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाले केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे ऐसा कहा गया है कि अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेद के निषेधरूप प्रयोजन को ध्यान में रखकर किया जानेवाला परिग्रह का निषेध एक प्रकार से अंतरंग छेद का ही निषेध है।''

तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का तात्पर्य इसप्रकार दिया गया है ह्न

''इससे यह कहा गया है कि जिसप्रकार बाह्य में छिलके का सद्भाव होने पर चावल के अन्दर की शुद्धि होना संभव नहीं है; उसीप्रकार बाह्य परिग्रह की इच्छा विद्यमान होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूतिरूप शुद्धि होना संभव नहीं है और यदि विशिष्ट वैराग्यपूर्वक परिग्रह का त्याग होता है तो चित्त की शुद्धि भी होती है; परन्तु प्रसिद्धि, पूजा-प्रतिष्ठा के लाभ

की दृष्टि से त्याग करने पर चित्त की शुद्धि नहीं होती।''

कविवर वृन्दावनदासजी १ छन्द में ही इस गाथा के भाव को बड़ी सरलता से इसप्रकार स्पष्ट कर देते हैं ह्न

(रूप सवैया)

अंतर चाहदाह परिहरकरि, जो न तजै परिगहपरसंग।
सो मुनि को मन होय न निरमल, संजम शुद्ध करत वह भंग।।
मन विशुद्ध बिनु करम कटैं किमि, जे प्रसंगवश बंधे कुढंग।
तातैं तिलतुष मित हु परिग्रह, तजहिं सरव मुनिवर सरवंग।।१०३।।

जो मुनिराज अंतर की चाह की दाह (जलन) को छोड़कर परपदार्थरूप परिग्रह का परित्याग नहीं करते; उन मुनिराजों का मन निर्मल नहीं होता और उनका शुद्ध संयम भंग हो जाता है। मन की विशुद्धि के बिना प्रसंगवश बंधे कुढंगे कर्म कैसे कट सकते हैं ? इसलिए सभी मुनिराज सम्पूर्ण परिग्रह का सर्वांग त्याग कर देते हैं और तिलतुषमात्र परिग्रह नहीं रखते।

पण्डित देवीदासजी भी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

(सवैया तेईसा)

जो मुनि बाहिज के तुस तुल्य, परिग्रह सौं अनुराग करै है।
तौ तिन्हि कौ चित्तु होहि न सुद्ध, महा अति चंचलता सु धरै है।।
निर्मल जो उपयोग स्वरूप सु, है परिनाम मलीन परै है।
सो बसु कर्मनि कौं हनि कैं, पुनि क्यों भवसागर पार तरै है।।२९।।

जो मुनिराज तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रह से अनुराग करते हैं; उन मुनिराजों का चित्त शुद्ध नहीं होता, उनका मन अत्यन्त चंचल बना रहता है और उनका निर्मल उपयोगरूप परिणमन मलिनता को प्राप्त होता है। ऐसे मुनिराज आठ कर्मों का नाश करके भवसागर से पार कैसे हो सकते हैं?

'बाह्य परिग्रह परद्रव्य हैं और परद्रव्यों से आत्मा का कोई बिगाड़-सुधार नहीं होता' ह्न यद्यपि यह बात परम सत्य है; तथापि मुनिराजों के जबतक तिलतुष मात्र भी बाह्य परिग्रह रहता है; तबतक वास्तविक मुनिदशा प्रगट ही नहीं होती; क्योंकि अन्तर में परिग्रह से एकत्व-ममत्व बिना बाह्य परिग्रह रहता ही नहीं है ह्न ऐसा नियम है। बाह्य परिग्रह की

बुद्धिपूर्वक उपस्थिति और उसकी संभाल का भाव रागादिभावरूप ही है। **तात्पर्य यह है कि बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन है; अत: अंतरंग छेद के त्याग के लिए बहिरंग छेदरूप परिग्रह का पूर्णत: त्याग आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।**

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में उपर्युक्त भाव की पोषक ३ गाथायें प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती। वे गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो।।१७।।
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं ण गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।।१८।।
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्तं व चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि।।१९।।

(हरिगीत)

वस्त्र बर्तन यति रखें यदि यह किसी के सूत्र में।
ही कहा हो तो बताओ यति निरारंभी किसतरह।।१७।।
रे बस्त्र बर्तन आदि को जो ग्रहण करता है श्रमण।
नित चित्त में विक्षेप प्राणारंभ नित उसके रहे।।१८।।
यदि बस्त्र वर्तन ग्रहे धोवे सुखावे रक्षा करे।
खो न जावे डर सतावे सतत ही उस श्रमण को।।१९।।

'साधु वस्त्रों को ग्रहण करता है और उसके पास बर्तन भी होते हैं' ह्न यदि किसी आगम में ऐसा कहा गया है तो सोचने की बात यह है कि वस्त्र और बर्तन रखनेवाला साधु निरावलंबी और अनारंभी भी कैसे हो सकता है?

वस्त्र के टुकड़े, दूध के बर्तन तथा अन्य वस्तुओं को यदि वह ग्रहण करता है तो उसके जीवों का घात और चित्त में विक्षेप बना रहता है। वह बर्तन व वस्त्रों को ग्रहण करता है, धूल साफ करता है, धोता है और सावधानीपूर्वक धूप में सुखाता है, इनकी रक्षा करता है और दूसरों से डरता है। ●

प्रवचनसार गाथा २२१

२२०वीं गाथा में यह कहा गया है कि उपधि (परिग्रह) का निषेध अंतरंग छेद का ही निषेध है और अब इस २२१वीं गाथा में **'उपधि एकान्तिक अंतरंग छेद है' ह्न इस बात को विस्तार से समझाया जा रहा है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।।२२१।।

(हरिगीत)

उपधि के सद्भाव में आरंभ मूर्छा असंयम।
हो फिर कहो परद्रव्यरत निज आत्म साधे किसतरह।।२२१।।

उपधि (परिग्रह) के सद्भाव में मुनिराजों के मूर्छा, आरंभ या असंयम न हो ह्न यह कैसे हो सकता है तथा परद्रव्यरत साधु आत्मा को कैसे साध सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उपधि के सद्भाव में ममत्वपरिणामरूप मूर्छा, परिग्रह संबंधी कार्य से युक्त होनेरूप आरंभ अथवा शुद्धात्मस्वरूप का घातक असंयम होता ही है। आत्मा से भिन्न परद्रव्यरूप परिग्रह में लीनता होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है। इसकारण उपधि (परिग्रह) के एकान्तत: अंतरंग छेदपना निश्चित होता है। तात्पर्य यह है कि 'उपधि ऐसी है' ह्न ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ देना चाहिए।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए तत्त्वप्रदीपिका के प्रतिपादन को मात्र दुहरा ही देते हैं।

इस गाथा के भाव को पण्डित देवीदासजी १ छप्पय में और पण्डित वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त और ४ दोहे ह्न इसप्रकार ५ छन्दों में

स्पष्ट करते हैं। वृन्दावनदासजी के कतिपय दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

परिग्रह होते होत ध्रुव, ममता और आरंभ।
सो घातत सुविशुद्धमय, जो मुनिपद परवंभ ।।१०६।।
तातैं तिलतुष परिमित हु, तजौ परिग्रह मूल।
इहि जुत जानों सुमुनिपद, ज्यों अकाश में फूल ।।१०७।।
तातैं शुद्धातम विषैं, जो चाहो विश्राम।
तो सब परिग्रहत्यागि मुनि, होहु लहौ शिवधाम ।।१०९।।

परिग्रह के होने पर ममत्व और आरंभ निश्चितरूप से होते हैं। ये परमब्रह्म के आश्रय से होनेवाले सुविशुद्ध मुनिपद का घात करते हैं।

इसलिए तिलतुषमात्र परिग्रह को छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इनके होने पर मुनिपद आकाश के फूलों के समान असंभव है।

इसलिए यदि शुद्धात्मा में विश्राम करना चाहते हो तो सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग कर मुनिपद धारण करो और मुक्तिधाम को प्राप्त कर लो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो बाह्य वस्त्रादि परिग्रह में मग्न हैं, उसे मुनिदशा के साधकपने का अभाव है ह्न ऐसा होने से उपधि के ऐकांतिक अन्तरंग छेद भी निश्चित होता है; क्योंकि परिग्रह की ममता है, इसलिये मुनिपना का निषेध है।[१]''

इस गाथा के कथन का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि **परद्रव्यों में आसक्त साधुओं में मूर्छा, आरंभ और असंयम होता ही है। अत: वे आत्मा की साधना कैसे कर सकते हैं?** ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१०२

आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१८**

प्रवचनसार गाथा २२२

विगत गाथाओं में उत्सर्ग मार्ग की चर्चा करने के उपरान्त अब यहाँ **किसी के कहीं कभी किसीप्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है। ऐसे अपवाद मार्ग का उपदेश करते हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

छेदो जेण ण बिज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ।।२२२।।

(हरिगीत)

छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह।
हो विसर्जन नीहार का भी क्षेत्र काल विचार कर ।।२२२।।

आहार-नीहारादिक के ग्रहण-विसर्जन में जिस उपधि का सेवन होता है, उससे सेवन करनेवाले को छेद नहीं होता; इसलिए हे श्रमणो! उक्त उपधियुक्त क्षेत्र-काल को जानकर इस लोक में भले प्रवर्तो अर्थात् प्रवर्तन करो तो कोई हानि नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मद्रव्य के द्वितीय, पुद्गल का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है ह्न यह उत्सर्ग मार्ग (सामान्य नियम) है और विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश को उपधि अनिषिद्ध है ह्न यह अपवादमार्ग है।

जब कोई श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल-क्षेत्र के वश हीन शक्तिवाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है; तब उसमें अपकर्षण (अपवाद) करके अनुत्कृष्ट संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधन मात्र उपधि का आश्रय करता है। इसप्रकार वह उपधि उपधिपने के कारण छेदरूप नहीं है; अपितु छेद के निषेधरूप ही है।

जो उपधि अशुद्धोपयोग बिना नहीं होती, वह छेद है; किन्तु यह तो श्रामण्यपर्याय की सहकारीकारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-

नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है; इसलिए छेद के निषेधरूप ही है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए कविवर वृन्दावनदासजी ९ चौपाइयों और २ दोहे ह्न इसप्रकार ११ छन्दों का तथा पंडित देवीदासजी १ दोहा और १ कवित्त ह्न इसप्रकार २ छन्दों का प्रयोग करते हैं।

इनमें से वृन्दावनदासजी के कतिपय महत्त्वपूर्ण छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

इत शंका कोई करत, मुनिपद तो निरगंथ।
तिनहिं परिग्रहगहन तुम, क्यों भाषत हौ पंथ।।१११।।
मुनिमग दोय प्रकार है, प्रथम भेद उतसर्ग्ग।
दुतिय भेद अपवाद है, दोउ साधत अपवर्ग्ग।।११२।।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि मुनिपद तो निर्ग्रन्थ दशारूप होता है; उसमें आप परिग्रह ग्रहण की बात क्यों करते हो ?

इसके समाधान में कहते हैं कि मुनिमार्ग दो प्रकार का है। उसमें पहला भेद उत्सर्ग है और दूसरा भेद अपवाद है। दोनों ही मुक्ति को साधते हैं।

(चौपाई)

मुनि उतसर्ग मार्ग के माहीं। सकल परिग्रह त्याग कराहीं।।
जातैं तहां एक निजआतम। सोई गहनजोग चिदातम।।११३।।
तासों भिन्न और पुद्गलगन। तिनको तहां त्याग विधि सों भन।।
शुद्धपयोगदशा सो जानौ। परमवीतरागता प्रमानौ।।११४।।
अब अपवाद सुमग सुनि भाई। जा विधि सों जिनराज बताई।।
जब परिग्रह तजि मुनिपद धरई। जथाजात मुद्रा आदरई।।११५।।
तब वह वीतरागपद शुद्धी। ततखिन दशा न लहत विशुद्धी।।
तब सो देश-काल कहँ देखी। अपनी शकति सकल अवेखी।।११६।।
निज शुद्धोपयोग की धारा। जो संजम है शिवदातारा।।
तासु सिद्धि के हेत पुनीती। जो शुभरागसहित मुनिरीती।।११७।।
गहै ताहि तब ताके हेतो। बाहिजसंजम साधन लेतो।
जे मुनिपदवी के हैं साधक। मुनिमुद्रा के रंच न बाधक।।११८।।

शुद्धपयोग सुधारन कारन। आगम-उकत करैं सो धारन।
दया ज्ञान संजम हित होई। अपवादी मुनि कहिये सोई।।११९।।

उत्सर्ग मार्ग में मुनिराज सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करते हैं; इसकारण उत्सर्ग मार्ग में तो ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा ही ग्रहण योग्य कहा है। निजात्मा से भिन्न पुद्गलादि पदार्थों के त्यागरूप परम वीतरागी शुद्धोपयोग ही उत्सर्ग मार्ग है।

अब जिनेन्द्रकथित अपवाद मार्ग की बात सुनो; जिसमें समस्त परिग्रह को छोड़कर यथाजात नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण की जाती है।

तब वहाँ वीतरागपद की शुद्धि तत्क्षण विशुद्ध तो हो नहीं जाती। ऐसी स्थिति में देशकाल और अपनी शक्ति को देखकर मोक्ष प्राप्त करनेवाली शुद्धोपयोग की पुनीत धारा की सिद्धि के लिए शुभराग सहित मुनिदशा की रीति को ग्रहण किया जाता है और उसके लिए बाह्य संयम का साधन किया जाता है। वह बाह्य संयम मुनिपदवी का साधक है और मुनिमुद्रा का रंचमात्र भी बाधक नहीं है।

शुद्धोपयोग को सुधारने के लिए वह आगमानुसार धारण किया जाता है। दया के लिए पीछी, ज्ञान के लिए शास्त्र और संयम (शुद्धि) के लिए कमण्डलु को ग्रहण करनेवाले मुनिराज अपवादमार्ग में हैं।

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पूर्ण वीतरागस्वरूप आत्मा में जबतक यह जीव स्थित नहीं होता; तबतक उसे उपदेश सुनना, उपदेश देना, आहार लेना, पर जीवों की दया पालना इत्यादि विकल्प ह्न भाव आते हैं; किन्तु ऐसी उपधि का आश्रय होने पर संयम का छेद नहीं होता; अतः वास्तव में वे उपधि नहीं है। वहाँ संयम का छेद नहीं है, अपितु वह उपधि तो छेद के निषेधरूप है।

छठवें गुणस्थान में विकल्प आने पर उसका लक्ष न करें, तो वे अन्य राग में जुड़ेंगे; अतः व्यवहार संयम ह्न छठवें गुणस्थान में टिका हुआ होने से वे शुभविकल्प उपधि में नहीं लिये है।[१]

मुनिराज को छठवाँ और सातवाँ गुणस्थान हजारों बार आता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१०५

वहाँ सातवें में निर्विकल्प अनुभव में ठहरें, वह उत्सर्ग मार्ग है और छठवें का विकल्प उत्पन्न हुआ, वह अपवाद मार्ग है।[१]

छठवें गुणस्थान में शुभवृत्ति उठने पर उसे भी यहाँ सर्वथा शुद्धोपयोग रूप ही गिना है; क्योंकि छठवें गुणस्थान की दशा में विघ्न जैसी अशुद्धता नहीं है। वहाँ आहारादिक का विकल्प उठे तो आहारादिक लेते हैं; पर राग के पोषण के लिये नहीं; अपितु संयम का घात होकर अशुभ राग न आ जाये ह्न इस हेतु से आहारादिक लेते हैं। इसीलिये इस उपधि से संयम का छेद नहीं होता।[२]

छठवें गुणस्थान में शुभराग और मन का अवलंबन होने पर भी यहाँ उसे सर्वथा शुद्धोपयोग कहा है; क्योंकि छठवें गुणस्थान से वे मुनिराज नीचे नहीं गिरते। उनकी वह दशा टिकी रहती है। उसके पश्चात् वे पुनः सातवें में जाते हैं; **इसलिये छठवें गुणस्थान को भी शुद्धोपयोग में ही गिना जाता है।** छठवाँ गुणस्थान तो द्रव्य के आश्रय से ही टिका है; किन्तु मुनिराज को विकल्प उत्पन्न हो, तब उनकी क्या स्थिति है ? विकल्प की क्या मर्यादा है ? इसका यहाँ ज्ञान कराया है। चौथा-पाँचवा गुणस्थान भी द्रव्य के ही आश्रय से टिका है।[३]''

छठवें-सातवें गुणस्थानों में निरन्तर झूलनेवाले मुनिराज जब छठवें गुणस्थान में होते हैं, तब अपवादमार्गी हैं और जब सातवें या उससे ऊपर के गुणस्थानों में होते हैं; तब उत्सर्गमार्गी हैं। उत्सर्गमार्ग में तो किसीप्रकार के परिग्रह (उपधि) का होना संभव ही नहीं है; किन्तु जब वे अपवादमार्ग में होते हैं तो दया का उपकरण पीछी, शुद्धि का उपकरण कमण्डलु और ज्ञान का उपकरण गुरुवचन (शास्त्र) उनके पास पाये जाते हैं; पर उनसे भी उनका एकत्व-ममत्व नहीं होता।

यद्यपि उनके छठवें गुणस्थान में उपयोगरूप आत्मानुभूति नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति अवश्य है। इसकारण उनके पास पीछी, कमण्डलु और शास्त्र होने पर भी उनका मुनित्व खण्डित नहीं होता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१०५ २. वही, पृष्ठ-१०६ ३. वही, पृष्ठ-१०७

प्रवचनसार गाथा २२३

विगत गाथा में अनिषिद्ध उपधि की चर्चा के उपरान्त अब इस गाथा में **उसी अनिषिद्ध उपधि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ।।२२३।।

(हरिगीत)

मूर्छादि उत्पादन रहित चाहे जिसे न असंयमी।
अत्यल्प हो ऐसी उपधि ही अनिंदित अनिषिद्ध है।।२२३।।

हे श्रमणो ! अनिंदित, असंयत जनों से अप्रार्थनीय और जो मूर्छा पैदा न करे ह्न ऐसी अल्प उपधि को ग्रहण करो।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो उपधि बंध की सर्वथा असाधक होने से अनिंदित है, संयमीजनों को छोड़कर अन्य किसी के काम की न होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय है और रागादिभावों के बिना धारण की जानेवाली होने से मूर्च्छादि की अनुत्पादक है; वह उपधि वस्तुत: अनिषिद्ध है, उपादेय है; किन्तु उक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूपवाली उपधि अल्प भी उपादेय नहीं है।''

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इससे अधिक कुछ भी नहीं लिखते हैं। कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त और २ दोहे ह्न इसप्रकार ३ छन्दों में और पंडित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हैं।

वैसे तो उक्त छन्दों में कोई विशेष बात नहीं है, फिर भी वृन्दावनदासजी अपने दोहों में यह स्पष्ट कर देते हैं कि वह उपधि पीछी, कमण्डलु और

शास्त्र तक ही सीमित है। उनके वे दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

या में हेत यही कहत, पीछी पोथी जानु।
तथा कमंडलु को गहन, यह सरधा उर आनु।।१२१।।
शुभपरिनति संजम विषैं, इनको है संसर्ग।
ताही तैं इनको गहत, अपवादी मुनिवर्ग।।१२२।।

इसमें एकमात्र हेतु पीछी, पोथी और कमण्डल का ग्रहण करना ही है ह्न ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

शुभपरिणति और संयम की सुरक्षा के लिए ये काम आते हैं; इसकारण ही अपवादमार्गी मुनिराज इनका ग्रहण करते हैं।

इस गाथा में मात्र इतनी बात कही गई है कि जब मुनिराज अपवादमार्ग में होते हैं, तब उनके पास तीन वस्तुएँ हो सकती हैं ह्न दया का उपकरण पीछी, संयम (शुद्धि) का उपकरण कमण्डलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र। ये तीनों वस्तुएँ अनिन्दित, अप्रार्थनीय और रागादि की अनुत्पादक होना चाहिए।

पीछी और कमण्डलु गृहस्थों के काम के नहीं हैं, इसलिए उन्हें कोई माँगेगा नहीं, इसलिए अप्रार्थनीय हैं; कीमती नहीं हैं, इसलिए कोई चुरायेगा नहीं और आकर्षक नहीं हैं, इसकारण राग को उत्पन्न नहीं करेंगे। ये दोनों तो एक-एक ही रखे जाते हैं; पर शास्त्र अनेक रखे जा सकते हैं; अत: अल्प होना चाहिए ह्न यह कहा है; क्योंकि अधिक होंगे तो साथ में ले चलना संभव नहीं होगा।

यदि उक्त तीनों वस्तुएँ ऐसी हों कि जिन्हें बाजार में बेचकर पैसा कमाया जा सकता है, तो उनकी रक्षा के विकल्प हुए बिना नहीं रहेंगे; क्योंकि उन वस्तुओं की चोरी भी हो सकती है और उन्हें कोई माँग भी सकता है।

यह तो आप जानते ही हैं कि मुनिराज प्रात:, दोपहर और सायं को प्रतिदिन तीन बार छह-छह घड़ी की सामायिक करते हैं, आत्मध्यान

करते हैं। एक घड़ी २४ मिनिट की होती है। इसप्रकार वे २ घंटे और २४ मिनिट दिन में तीन बार कुल ७ घंटे और १२ मिनट तक प्रतिदिन आत्मध्यान करते हैं। यदि पीछी, कमण्डलु और पोथी कीमती हुईं तो सामायिक के काल में उनकी रक्षा कौन करेगा ? **उक्त वस्तुओं का ग्रहस्थों के काम की नहीं होना ही उनकी रक्षा का सबसे निरापद उपाय है।**

चूँकि ये वस्तुएँ कीमती नहीं हैं; अत: कोई चुरायेगा नहीं और मुनिराजों के चित्त में उनके प्रति एकत्व-ममत्व नहीं है, राग नहीं है; अत: ये उनके चुराये जाने के भय से मुक्त रहेंगे। इसप्रकार उक्त तीनों वस्तुएँ उनके पास होकर भी उनकी नहीं हैं, उनके चित्त को आन्दोलित नहीं करती। यही कारण है कि उन्हें उपधि नहीं माना गया अथवा यह उपधि अपवाद मार्ग में अनिषिद्ध है। ●

कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत: मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है, तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है; उसीप्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता, किन्तु बचाने की बुद्धि करता है, तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्य का कारण है और मारने का भाव पाप का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं, तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-२७

प्रवचनसार गाथा २२४

२२३वीं गाथा में यह कहा गया है कि अपवाद मार्ग में पीछी, कमण्डलु और पोथी की उपधि अनिषिद्ध है और अब यहाँ २२४वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि **वस्तुधर्म तो उत्सर्ग मार्ग ही है, अपवाद मार्ग नहीं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा।।२२४।।

(हरिगीत)

जब देह भी है परिग्रह उसको सजाना उचित ना।
तो किसतरह हो अन्य सब जिनदेव ने ऐसा कहा।।२२४।।

जबकि जिनेन्द्र भगवान ने मुमुक्षु के लिए 'देह भी परिग्रह' ह्न ऐसा कहकर देह से भी अप्रतिकर्मपना कहा है; तब उनके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ, श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया, ऐसे अत्यन्त नजदीकी शरीर में भी 'यह शरीर परद्रव्य होने से परिग्रह है, वस्तुत: यह अनुग्रह योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य है' ह्न ऐसा कहकर उसका साज-शृंगार नहीं करने का उपदेश अरहंत भगवान के द्वारा दिया गया है; तब फिर यहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की संभावना के रसिक पुरुषों की दृष्टि में शेष अन्य अप्राप्त परिग्रह अनुग्रह के योग्य कैसे हो सकता है ? ऐसा आशय अरंहतदेव का व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं। यहाँ तात्पर्य यह है कि वस्तु धर्म होने से परम निर्ग्रन्थपना ही अवलम्बन योग्य है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं। इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त और पंडित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया लिखते हैं।

वृन्दावनदासजी द्वारा लिखित छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

अहो भव्यवृन्द जहां मोक्षाभिलाषी मुनि,
देह हू को जानत परिग्रह प्रमाना है।
ताहू सों ममत्तभाव त्यागि आचरन करै,
ऐसे सरवज्ञ-वीतराग ने बखाना है।।
तहां अब कहो और कौन सो परिग्रह को,
गहन करेंगे जहाँ त्याग ही को बाना है।
ऐसो शुद्ध आतमीक परमधर्मरूप उत-
सर्ग मुनिमारग को फहरै निशाना है।।१२३।।

हे भव्यजीवो ! सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान ने ऐसा कहा है कि जब मोक्षाभिलाषी मुनि देह को भी परिग्रह मानते हैं; उससे भी ममत्वभाव को त्यागकर आचरण करते हैं; तब कहो कि वे कौन-सा परिग्रह ग्रहण करेंगे; क्योंकि उनके तो त्याग का ही वेष है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि जगत में ऐसे शुद्धात्मीक परमधर्म रूप उत्सर्ग मुनिमार्ग का झंडा फहर रहा है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ शरीर को परिग्रह कहकर उसके प्रति होनेवाले ममत्व परिणाम को भी छोड़ने के लिये कहा गया है तो फिर वस्त्रादि का परिग्रह मुनिराज को कैसे हो सकता है?

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भगवान की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषी के 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर देह में भी अप्रतिकर्मपना (संस्काररहित पना) उपदेशा है, तब उनका यह स्पष्ट आशय है कि उस जीव के (मुनिराजों के) अन्य परिग्रह कैसे हो सकता है ?[१]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-११०-१११

सर्वज्ञदेव ने मुनिवरों को शरीर को सजाने आदि का निषेध करने के लिये अप्रतिकर्मपने का ही उपदेश दिया है; इसलिये मुनिराजों को अन्य दूर क्षेत्रस्थ अनुपात्त परिग्रह का तो विचार करना भी योग्य नहीं है।[१]

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान का ऐसा आशय हमें व्यक्त भासित होता है; क्योंकि यही अरहन्तों का आशय है।

इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं।

व्यवहार से शरीरादि परिग्रह है ह्न ऐसा जाना था, किन्तु उसे भी अपवाद में गिनकर परमार्थ से उसका भी निषेध किया है। तात्पर्य यह है कि परमनिर्ग्रन्थपना ही वस्तुधर्म है, अतः यही अवलंबन करने योग्य है।[२]''

इस गाथा में यह कहा गया है कि यद्यपि अपवादमार्ग में वर्तते मुनिराजों का भी मुनित्व खण्डित नहीं होता; तथापि उत्कृष्ट तो उत्सर्गमार्ग ही है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जब अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय का विषय एकक्षेत्रावगाही शरीर भी उपधि है तो फिर उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय पीछी-कमण्डलु आदि या वस्त्रादि की तो बात ही क्या कहना ?

शरीर की स्थिति तो यह है कि उसे छोड़ा नहीं जा सकता; पर उसमें से अपनत्व तो तोड़ा जा सकता है, उसके प्रति होनेवाला राग तो छोड़ा जा सकता है, उसके साज-शृंगार का भाव तो छोड़ा जा सकता है; यही कारण है कि आचार्यदेव उसका उदाहरण देकर अन्य परिग्रह का पूर्णतः निषेध कर रहे हैं।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में ११ गाथायें ऐसी प्राप्त होती हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं हैं।

उक्त गाथाओं में श्वेताम्बरमत मान्य स्त्री मुक्ति का निषेध किया गया है। पहली गाथा में शंका उपस्थित की गयी है, शेष गाथाओं में उसका समुचित समाधान प्रस्तुत कर अन्त में कैसा पुरुष दीक्षा के योग्य है ह्न यह बताकर प्रकरण को समाप्त कर दिया है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१११ २. वही, पृष्ठ-१११

शंका प्रस्तुत करनेवाली गाथा इसप्रकार है ह्न

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२०।।

(हरिगीत)

लोक अर परलोक से निरपेक्ष है जब यह धरम।
पृथक् से तब क्यों कहा है नारियों के लिंग को।।२०।।

श्रमणों में इन्द्र, जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताया गया धर्म जब इस लोक और पर लोक की अपेक्षा नहीं रखता; तब इस धर्म में महिलाओं के लिंग को भिन्न क्यों कहा गया है ?

यह तो आप जानते ही हैं कि अष्टपाहुड में तीन लिंगों की चर्चा की गई है। जिस गाथा में उक्त चर्चा प्राप्त होती है, वह गाथा इसप्रकार है ह्न

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।[१]

(हरिगीत)

एक जिनवर लिंग है उत्कृष्ट श्रावक दूसरा।
और कोई चौथा है नहीं पर आर्यिका का तीसरा।।

तात्पर्य यह है कि प्रथम तो नग्न दिगम्बर मुनिराजों का लिंग (वेष) है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों (क्षुल्लक-ऐलक) का और तीसरा आर्यिका का। जैनदर्शन में ये तीन लिंग (वेष) स्वीकार किये गये हैं।

प्रथम वेषवाले पुरुष संत तो पूर्णतः नग्न रहते हैं, दूसरे वेष में उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक तो एक लंगोटी और एक खण्ड वस्त्र रखते हैं तथा ऐलक मात्र लंगोटी ही रखते हैं। तीसरा वेष महिलाओं का है, जो आर्यिकायें कहलाती हैं और मात्र एक सफेद साड़ी पहनती हैं।

चूंकि श्वेताम्बर मान्यता में पुरुष साधु भी कपड़े पहनते हैं; अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि महिलाओं के लिए अलग वेष की बात क्यों कही गई ?

उक्त शंका का समाधान आगामी गाथाओं में किया गया है; जो मूलतः इसप्रकार हैं ह्न

१. अष्टपाहुड़ : दर्शनपाहुड़, गाथा १८

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२१।।
पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुला त्ति णिद्दिठा।।२२।।
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं।।२३।।
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं।।२४।।
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं।।२५।।
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि।।२६।।
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा।।२७।।
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा।।२८।।
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।२९।।
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो।।३०।।

(हरिगीत)

नारियों को उसी भव में मोक्ष होता ही नहीं।
आवरणयुत लिंग उनको इसलिए ही कहा है।।२१।।
प्रकृतिजन्य प्रमादमय होती है उनकी परिणति।
प्रमादबहुला नारियों को इसलिए प्रमदा कहा।।२२।।
नारियों के हृदय में हों मोह द्वेष भय घृणा।
माया अनेकप्रकार की बस इसलिए निर्वाण ना।।२३।।
एक भी है दोष ना जो नारियों में नहीं हो।
अंग भी ना ढके हैं अतएव आवरणी कही।।२४।।

चित्त चंचल शिथिल तन अर रक्त आवे अचानक।
और उनके सूक्ष्म मानव सदा ही उत्पन्न हों।।२५।।
योनि नाभि काँख एवं स्तनों के मध्य में।
सूक्ष्म जिय उत्पन्न होते रहें उनके नित्य ही।।२६।।
अरे दर्शन शुद्ध हो अर सूत्र अध्ययन भी करें।
घोर चारित्र आचरे पर न नारियों के निर्जरा।।२७।।
इसलिए उनके लिंग को बस सपट ही जिनवर कहा।
कुलरूप वययुत विज्ञ श्रमणी कही जाती आर्यिका।।२८।।
त्रिवर्णी नीरोग तप के योग्य वय से युक्त हो।
सुमुख निन्दा रहित नर ही दीक्षा के योग्य हैं।।२९।।
रतनत्रय का नाश ही है भंग जिनवर ने कहा।
भंगयुत हो श्रमण तो सल्लेखना के योग्य ना।।३०।।

निश्चय से महिलाओं को उसी भव में मोक्ष नहीं देखा गया; इसलिए महिलाओं के आवरण सहित पृथक् चिह्न कहा गया है।

महिलाओं की परिणति स्वभाव से ही प्रमादमयी होती है; इसलिए उन्हें प्रमदा कहा गया है। प्रमाद की बहुलता होने से ही उन्हें प्रमदा कहा जाता है।

महिलाओं के मन में मोह, द्वेष, भय, ग्लानि और विचित्र प्रकार की माया निश्चित होती है; इसलिए उन्हें उसी भव से मोक्ष नहीं होता।

इस जीव लोक में महिलायें एक भी दोष से रहित नहीं होती और उनके अंग भी ढके हुए नहीं हैं; इसलिए उनके बाह्य का आवरण कहा है।

महिलाओं में शिथिलता और उनके चित्त में चंचलता होती है तथा अचानक (ऋतुसमय में) रक्त प्रवाहित होता है और उनमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है।

महिलाओं के लिंग (योनि स्थान) में, दोनों स्तनों के बीच में, नाभि में और काँख में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है ह्न ऐसा होने पर उनके संयम कैसे हो सकता है ?

यद्यपि महिला सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम के अध्ययन से भी

युक्त हो और घोर चारित्र का आचरण भी करती हो; तथापि उसके निर्जरा नहीं होती ह्न ऐसा कहा गया है।

इसलिए जिनेन्द्र भगवान ने उन महिलाओं का लिंग (वेष) वस्त्र सहित कहा है। कुल, रूप, उम्र से सहित जिनागमानुसार अपने योग्य आचरण करती हुई वे श्रमणी-आर्यिका कहलाती हैं।

तीन वर्णों में से कोई एक वर्णवाला, नीरोग शरीरी, तपश्चरण को सहन करने योग्य उम्र व सुन्दर मुखवाला तथा लोकनिन्दा से रहित पुरुष दीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।

रत्नत्रय के नाश को जिनेन्द्रदेव ने भंग कहा है और शेष भंग (शरीर के किसी अंग का खण्डित हो जाना, वायु का रोग हो जाना, अंडकोषों का बढ़ जाना आदि) के द्वारा वह सल्लेखना के योग्य नहीं होता।

आचार्य जयसेन ने उक्त गाथाओं की टीका में बहुत कुछ तो गाथाओं में समागत भाव का ही स्पष्टीकरण किया है; फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी हैं कि जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

२६वीं गाथा की टीका में वे स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि जो दोष महिलाओं में बताये गये हैं; क्या वे दोष पुरुषों में नहीं हैं?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि **ऐसी बात नहीं है। यद्यपि ये दोष थोड़े-बहुत पुरुषों में भी पाये जाते हैं; तथापि महिलाओं में बहुलता से पाये जाते हैं। होने मात्र से समानता नहीं होती। क्या विष की कणिका और विष के पर्वत को समान कहा जा सकता है?**

दूसरी बात यह है कि पुरुषों में वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक पहले संहनन के बल से दोषों को नष्ट करनेवाला मुनि के योग्य विशेष संयम होता है। उक्त दोषों की बहुलता से और वज्रवृषभनाराचसंहनन न होने के कारण स्त्रियों में उक्त संयम कैसे हो सकता है?

प्रश्न ह्न २७वीं गाथा में कहा गया है कि महिलाओं के निर्जरा नहीं होती। मोक्ष नहीं होता ह्न यह बात तो ठीक, पर निर्जरा भी नहीं होती ह्न यह कैसे माना जा सकता है? इस कथन की अपेक्षा क्या है?

उत्तर ह्न अरे भाई! इसका भाव यह है कि उनके उसी भव में कर्मों के क्षय करने योग्य सम्पूर्ण निर्जरा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि प्रथम संहनन का अभाव होने से जिसप्रकार महिलायें सातवें नरक नहीं जातीं; उसीप्रकार मोक्ष भी नहीं जातीं।

प्रश्न ह्न शास्त्र में भावस्त्रियों को तो मोक्ष जाना माना गया है। उक्त कथन का क्या आशय है?

उत्तर ह्न भावस्त्रियों के प्रथम संहनन होता है और द्रव्य स्त्रीवेद का अभाव होने से उसी भव से मोक्ष जानेवाले परिणामों को रोकनेवाला तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता। अत: उन्हें मोक्ष होने में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न ह्न यदि द्रव्यस्त्रियों को मोक्ष नहीं होता तो फिर आर्यिकाओं में महाव्रत का आरोपण क्यों किया गया है?

उत्तर ह्न आर्यिकाओं के महाव्रत उपचार से कहे गये हैं और उपचार साक्षात् होने के योग्य नहीं होता।

विशेष बात यह है कि १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि पूर्व भव में सोलहकारण भावनाएँ भाकर तीर्थंकर होते हैं और सम्यग्दृष्टि को स्त्रीवेद का बंध नहीं होता; तब वे स्त्री कैसे हो सकते हैं? दूसरी बात यह है कि यदि मल्लिनाथ स्त्री थे तो फिर उनकी प्रतिमा स्त्री के रूप में क्यों नहीं लगाई जाती?

प्रश्न ह्न यदि स्त्रियाँ सदोष होती हैं तो फिर सीता, रुक्मणी, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा आदि स्त्रियाँ जिनदीक्षा ग्रहण कर सोलहवें स्वर्ग में कैसे गईं?

उत्तर ह्न इसमें कोई दोष नहीं; क्योंकि उनके लिए स्वर्ग में जाने का निषेध नहीं है। वहाँ से आकर पुरुष होकर मोक्ष जाने में भी कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि **स्त्रियों का उसी भव से मोक्ष जाने का निषेध है, अन्य भव से पुरुष होकर मोक्ष जाने में कोई दोष नहीं है।** ●

> वस्तुत: कार्य तो उपादान की पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही सम्पन्न होता है; निमित्त की तो मात्र अनुकूलता के रूप से उपस्थिति ही रहती है।
>
> **ह्न निमित्तोपादान, पृष्ठ-२८**

प्रवचनसार गाथा २२५

२२४वीं गाथा में यह कहा गया है कि उत्सर्गमार्ग ही श्रेष्ठ है, अपवादमार्ग नहीं; और अब इस गाथा में **अपवादमार्ग में होनेवाली विशेष बातें समझा रहे हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ।।२२५।।

(हरिगीत)

जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन।
आगम पठन हैं उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन।।२२५।।

जिनमार्ग में यथाजातरूप नग्न दिगम्बर अवस्था को उपकरण कहा गया है और गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय को भी उपकरण कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

''अपवादरूप अनिषिद्ध उपधि श्रामण्य पर्याय की सहकारी कारण के रूप में उपकार करनेवाली होने से उपकरण हैं, अन्य नहीं।

वे उपकरण इसप्रकार हैं ह्न १. सभी प्रकार की कृत्रिमता से रहित, सहजरूप से अपेक्षित यथाजातरूपपने के कारण बहिरंगलिंगभूत काय पुद्गल, २. श्रवण योग्य तत्कालबोधक गुरु द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व द्योतक उपदेशरूप वचन पुद्गल, ३. अध्ययन किये जाने वाले नित्य-बोधक, अनादिनिधन आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पुद्गल और ४. शुद्धात्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली दार्शनिक पर्यायोंरूप परिणमित पुरुष के प्रति विनम्रता का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्त पुद्गल ह्न ये चार अपवादमार्ग की उपकरणरूप उपधि हैं। इनका अपवाद मार्ग में निषेध नहीं किया गया है।

तात्पर्य यह है कि काय की भांति मन और वचन भी वस्तुधर्म नहीं हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका की बात को ही दुहरा देते हैं। इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया में और कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त और २ दोहे ह्न इसप्रकार ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। वृन्दावनदासजी के छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(मनहरण)

काया को अकार जथाजात मुनिमुद्रा धरै,
एक तो परिग्रह यही कही जिनंद है।
फेर गुरुदेव जो सुतत्त्व उपदेश करैं,
सोऊ पुग्गलीक वैन गहत अमंद है।।
बड़ेनि के विनै में लगावै पुग्गलीक मन,
तथा श्रुति पढ़ै जो सुपुग्गल को छंद है।
येते उपकर्न जैनपंथ में हैं मुनिनि के,
तेऊ सर्व परिग्रह जानो भविवृन्द है।।१२४।।

जिनेन्द्र भगवान ने एक तो यथाजात नग्न दिगम्बर मुनिमुद्रारूप पुरुषाकार काय को परिग्रह कहा है, दूसरे गुरुदेव के द्वारा दिये गये उपदेशरूप पौद्गलिक वचनों को परिग्रह कहा है, तीसरे बड़े लोगों की विनय में लगा हुआ पौद्गलिक मन परिग्रह है और चौथे शास्त्रों को पढ़ने योग्य पौद्गलिक छन्द भी परिग्रह है। हे भव्यजीवो ! जैनमार्ग में मुनियों के उक्त चार उपकरणों को भी परिग्रह माना गया है।

(दोहा)

एक शुद्धनिजरूप तैं, जेते भिन्न प्रपंच।
ते सब परिग्रह जानिये, शुद्धधर्म नहिं रंच।।१२५।।
तातैं इनको त्यागि के, गहो शुद्ध उपयोग।
सो उतसर्ग-सुमग कहो, जहँ सुभावसुखभोग।।१२६।।

एक आत्मा के शुद्धस्वरूप से भिन्न जितने भी प्रपंच हैं; उन सभी को परिग्रह जानो, उनमें शुद्धधर्म रंचमात्र भी नहीं है। इसलिए इनको त्यागकर शुद्धोपयोग को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि स्वाभाविक सुख का भोग

करानेवाला यही उत्सर्गमार्ग है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अपवादरूप उपधि मुनियों के संयम में उपकार करनेवाली होने से उपकरणभूत है, अन्य कुछ भी उपकरणभूत नहीं है।[१]

शरीर, गुरुवचन, शास्त्र तथा विनयभाव में प्रवर्तित चित्तपुद्गल ह्न इन चार प्रकार के निमित्तों पर छठवें गुणस्थान में मुनिराज का ध्यान जाता है। मयूरपीछी और कमण्डलु तो शरीर नामक उपकरण में समा जाते हैं; क्योंकि जब शरीर पर लक्ष्य जाता है, तब मयूरपींछी और कमण्डलु पर भी ध्यान जाता है तथा जब वे भगवान की भक्ति करते हैं, वह विनय में समाहित हो जाती है।

इन उपकरणों की ओर से जो भी विकल्प उठते हैं, वे सभी विकल्प शुभभाव है; स्वभावधर्म नहीं है, अपितु अपवाद है। इन चार प्रकार का भाव मुनिराज को आता है; तथापि ये अपवाद वीतरागभावरूप धर्म नहीं है। यहाँ तो छठवें गुणस्थान में जिस सीमा तक राग की उत्पत्ति हो सकती है, उसका ज्ञान कराया है। इससे विशेष राग मुनिराज को नहीं होता।[२]

जिसप्रकार काया पर लक्ष जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार गुरुवचन अथवा मन के ऊपर लक्ष जाए और राग उत्पन्न हो तो वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।[३]

१.जिस श्रमण की श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत, सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप के सम्मुख वृत्ति जाये, उसे काय का परिग्रह है। २. जिस श्रमण की गुरु-उपदेश के श्रवण में वृत्ति रुके, उसे वचनपुद्गलों का परिग्रह है। ३. जिस श्रमण की सूत्राध्ययन में वृत्ति रुके उसके सूत्रपुद्गलों का परिग्रह है। ४. जिस श्रमण के योग्य पुरुष के विनयरूप परिणाम हों उसके मन के पुद्गलों का परिग्रह है।

इसप्रकार अपवादरूप परिग्रह चार प्रकार का है। उत्सर्ग मार्ग में तो

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-११३
२. वही, पृष्ठ-११९ ३. वही, पृष्ठ-११९

परिग्रह का लक्ष ही नहीं है।[१] शरीर-मन अथवा वचन पर लक्ष जाए तो वह उपकरण कहने में आते हैं और निज स्वरूप में निर्विकल्प ठहरना मुनियों का उत्सर्ग मार्ग है, तथापि ऊपर कहे गए परिग्रहों पर लक्ष जाए तो भी छठवें गुणस्थान में मुनिदशा छिदती नहीं है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि **जब मुनिराजों के आत्महित के निमित्तरूप शरीर, गुरुओं के वचन, जिनवाणी पठन और गुरुओं की विनय को भी उपकरण कहकर परिग्रह ही कहा है; तब अन्य परिग्रह की तो बात ही क्या करना ?**

दूसरी विशेष बात यह है कि यहाँ जिनवाणी को नित्यबोधक और गुरुवचनों को तत्कालबोधक कहा है। शास्त्र तो हमें सहजभाव से चौबीसों घंटे सर्वत्र उपलब्ध हैं; हम जब चाहें, तब उन्हें पढ़ सकते हैं; पर गुरु के वचन सदा और सर्वत्र उपलब्ध नहीं रहते; वे तो हमें सुनिश्चित क्षेत्र-काल में ही प्राप्त होते हैं; इसलिए शास्त्रों को नित्यबोधक और गुरुवचनों को तत्कालबोधक कहा गया है।

तीसरी बात यह है कि कोई बात समझ में न आवे तो गुरुजी से पूछ सकते हैं; पर शास्त्रों के साथ यह सुविधा उपलब्ध नहीं है; क्योंकि उनसे हमारी ओर इकतरफा मार्ग (वनवे ट्रैफिक) है। उनकी बात हमें तो उपलब्ध है, पर हम अपनी बात उन तक नहीं पहुँचा सकते।

चौथी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने सन्तों के वचनों का भी ज्ञान कर सकते हैं; पर गुरु वचनों में तो वर्तमान गुरुओं पर ही निर्भर रहना होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों का अध्ययन और गुरुओं के प्रवचन ह्न दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। दोनों की उपयोगिता भी असंदिग्ध है। **यद्यपि इन उपकरणों की उपयोगिता असंदिग्ध है; तथापि यहाँ उन्हें उपधि (परिग्रह) के रूप में ही स्वीकार किया गया है और अपवादमार्ग में ही स्वीकार किया गया है, उत्सर्गमार्ग में नहीं।** ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१२० २. वही, पृष्ठ-१२०

प्रवचनसार गाथा २२६

विगत गाथा में शरीर को उपधि कहा था, उपकरण कहा था; अब इस गाथा में उक्त **अनिषिद्ध उपधि/शरीर के पालन की विधि पर प्रकाश डालते हैं**। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।।२२६।।

(हरिगीत)

इहलोक से निरपेक्ष यति परलोक से प्रतिबद्ध ना।
अर कषायों से रहित युक्ताहार और विहार में।।२२६।।

कषायरहित श्रमण इस लोक से निरपेक्ष और परलोक से अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार-विहारी होते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अनादिनिधन एकरूप शुद्धात्मतत्त्व में परिणत होने से मुनिराज समस्त कर्मपुद्गलों के विपाक से अत्यन्त भिन्न स्वभाव के द्वारा कषायरहित होने से, वर्तमान काल में मनुष्यत्व के होते हुए भी स्वयं समस्त मनुष्य व्यवहार से उदासीन होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) हैं तथा भविष्य में होनेवाले देवादि भवों के अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं; इसलिए जिसप्रकार घट-पटादि ज्ञेयपदार्थों के जानने के लिए दीपक में तेल डाला जाता है और बाती को सुधारा जाता है; उसीप्रकार शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिए मुनिराज शरीर को युक्ताहार देते हैं और उसके माध्यम से युक्त विहार करते हैं; इसलिए वे युक्ताहारविहारी होते हैं।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि कषायरहित होने से मुनिराजों के वर्तमान मनुष्य शरीर के अनुराग से अथवा भावी देव शरीर के अनुराग से आहार-

विहार में अयुक्त प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की साधक श्रामण्य पर्याय के पालन के लिए वे युक्ताहारविहारी ही होते हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं; तथापि भावार्थ में दीपक के उदाहरण को इसप्रकार सांगोपांग घटित करते हैं ह्न

''इस लोक और परलोक से निरपेक्ष व कषाय रहित होने से वे मुनिराज शरीररूपी दीपक में ग्रास (कौर) रूपी तेल देकर परमार्थ पदार्थरूप घट-पट को प्रकाशित करते हैं; देखते हैं, जानते हैं। ऐसे मुनिराज ही युक्ताहारविहारी हैं, अन्य नहीं।''

पण्डित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया और वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हैं।

वृन्दावनदासजी का छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

जैसे घटपटादि विलोकिवे को भौन माहिं,
दीपविषैं तेल घालि बाती सुधरत है।
तैसें ज्ञानजोति सों सुरूप के निहारिवे को,
आहार-विहार जोग काया की करत है।।
यहां सुखभोग की न चाह परलोक हू के,
सुख अभिलाष सों अबंध ही रहत है।
रागादि कषायनि कों त्यागे रहै आठों जाम,
ऐसो मुनि होय सो भवोदधि तरत है।।१२७।।

जिसप्रकार भवन में घटपटादि पदार्थों के देखने के लिए दीपक में तेल डाल कर बाती को सुधारते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी ज्योति से शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने के लिए शरीर की युक्ताहारविहार से संभाल करते हैं। ऐसा करने में न तो उन्हें इस भव संबंधी सुख भोगने की चाह है और न परलोक के सुख की अभिलाषा ही है; इसकारण वे अबंध ही रहते हैं।

ऐसे मुनिराज आठों प्रहर (चौबीसों घंटे) रागादि भावों और कषायों को त्यागे रहते हैं और संसाररूपी सागर से पार हो जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज को मनुष्यदेह का संयोग है; परन्तु वे तो रागरहित होकर चैतन्य में स्थिर हैं; इसलिए जो वीतरागपर्याय प्रगट हुई है, वही मुनियों का आत्मव्यवहार है, शेष समस्त बाह्य मनुष्यव्यवहार से वे रहित हैं; इसलिए मुनि इस लोक में निरपेक्ष हैं।

जहाँ शरीर की भी उपेक्षा है, वहाँ अन्य बाह्य पदार्थों की क्या बात? मुनिराज तो लोकव्यवहार से बाहर निकल गये हैं और अन्तर में चैतन्य की निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, वही उनका व्यवहार है।[१]

मुनिराज को वर्तमान शरीर की स्पृहा नहीं है तथा भविष्य में प्राप्त होनेवाले वैभव की तृष्णा भी नहीं है; इसलिए वे इसलोक तथा परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं ह्न ऐसी उनकी वीतरागपरिणति होती है।[२]

मुनि को छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार-विहार का विकल्प उत्पन्न होता है। वे मुनि शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधनभूत श्रामण्यपर्याय के पालन के लिए ही केवल युक्ताहारविहारी होते हैं, यह भी निमित्तप्रधान चरणानुयोग का कथन है। परमार्थ से तो द्रव्य के आश्रय से ही लीनता होती है, उसके जोर से ही साधकपना टिकता और बढ़ता है।[३]''

मुनिराजों को न तो कोई वर्तमान भव के भोगों की लिप्सा है और न आगामी भवों में प्राप्त होनेवाले भोगों की आकांक्षा है। यही कारण है कि उनके विहार का प्रयोजन भी आत्मार्थ होता है और उनका आहार भी आत्मसाधना की अनुकूलता के लिए ही होता है। वे आहार के प्रति भी अत्यन्त निस्पृह रहते हैं और विहार के लिए भी सभी प्रकार की प्रतिबद्धताओं से मुक्त रहते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१२२
२. वही, पृष्ठ-१२३
३. वही, पृष्ठ-१२४-१२५

तात्पर्य यह है कि वे मुनिराज न तो उदिष्ट आहार लेते हैं और न विहार करने के लिए किसी को वचन देते हैं। वे ३२ अन्तराय और ४६ दोष टालकर निर्दोष आहार लेते हैं और उनका विहार भी सभीप्रकार की लौकिक प्रतिबद्धताओं से मुक्त रहता है।

आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के उपरान्त एक गाथा आती है, जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती और जिसमें पन्द्रह प्रकार के प्रमादों को गिनाया गया है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कोहादिएहि चउहिं वि विकहाहिं तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं।।३१।।

(हरिगीत)

चार विकथा कषायें अर इन्द्रियों के विषय में।
रत श्रमण निद्रा-नेह में परमत्त होता है श्रमण।।३१।।

चार प्रकार की क्रोधादि कषायों से, चार प्रकार की विकथाओं से, पाँच इन्द्रियों के विषयों से, निद्रा से और स्नेह में उपयुक्त होता हुआ श्रमण प्रमत्त होता है।

उक्त कथन से ऐसा लगता है कि प्रमत्तविरत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज क्रोधादि कषायों से युक्त, चार विकथाओं और पाँच इन्द्रियों के विषयों में रत, स्नेहासक्त और निद्रालु होते होंगे, पर बात ऐसी नहीं है; क्योंकि उनके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है; मात्र संज्वलन संबंधी कषायों का तीव्र उदय होता है। संज्वलन कषाय के उदयानुसार ही अन्य प्रमाद होते हैं। अत: यह नहीं समझना चाहिए कि वे गंदी-गंदी विकथाओं में उलझे रहते होंगे या सोते रहते होंगे।

जो यहाँ उन्हें प्रमादी कहा है, वह तो आत्मध्यानरूप अप्रमत्तदशा अर्थात् शुद्धोपयोगरूप दशा नहीं होने के कारण कहा है; तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो उनके निरन्तर विद्यमान ही है।

उनका प्रमाद विगत गाथाओं में कही गई उपधि या उपकरणरूप ही होता है; जिसमें निर्दोष आहार-विहार के विकल्प, शास्त्रपठन, गुरुवाणी श्रवण और गुरुओं के प्रति विनय व्यवहार ही आता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि फिर यहाँ प्रमत्तदशा में पंचेन्द्रियों के विषयों में रत आदि भेदों की चर्चा क्यों की गई है ?

इसका सीधा-सच्चा उत्तर यह है कि प्रमत्तदशा अकेले छठवें गुणस्थान में ही नहीं होती, अपितु पहले से छठवें गुणस्थान तक होती है; आगे के सभी गुणस्थान अप्रमत्त दशा के हैं। शुद्धोपयोगरूप सभी गुणस्थान अप्रमत्त गुणस्थान हैं और शुभाशुभभाववाले सभी गुणस्थान प्रमत्त कहलाते हैं।

उक्त पन्द्रह प्रकार का प्रमाद पहले से छठवें गुणस्थान तक अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है। **छठवें गुणस्थान में होनेवाली प्रमत्तदशा तो पीछी-कमण्डलु, शास्त्र तथा अध्ययन-अध्यापन और विनय व्यवहार तक ही सीमित है।** ●

आत्मानुभूति प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के पक्षों का अवलम्बन करनेवाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।

ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१५

प्रवचनसार गाथा २२७

विगत गाथा और उसकी टीका में यह समझाया गया है कि युक्ताहार-विहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही हैं और अब इस गाथा में **उनके युक्ताहारविहारत्व को सिद्ध करते हैं**। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ।।२२७।।

(हरिगीत)

अरे भिक्षा मुनिवरों की एसणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ।।२२७।।

देहमात्र परिग्रह है जिसके, ऐसे श्रमण ने शरीर में भी ममत्व छोड़कर उसके शृंगारादि से रहित वर्तते हुए अपने आत्मा की शक्ति को छुपाये बिना शरीर को तप के साथ जोड़ दिया है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक (हठ से) निषेध नहीं करता; इसलिए केवल देहवाला होने पर भी २२४वीं गाथा में बताये गये परमेश्वर के अभिप्राय को ग्रहण करके 'वस्तुत: यह शरीर मेरा नहीं है, इसलिए अनुग्रह योग्य भी नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' ह्न इसप्रकार देह के समस्त संस्कार (शृंगार) से रहित होने से परिकर्मरहित है। इसकारण उनके देह के ममत्व पूर्वक अनुचित आहार के ग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

दूसरे आत्मशक्ति को किंचित् मात्र भी छुपाये बिना समस्त आत्मशक्ति को प्रगट करके उन्होंने २२७वीं गाथा में कहे गये अनशनस्वभावी तप के साथ शरीर को सर्वारंभ से युक्त किया है; इसलिए आहार ग्रहण से होनेवाले

योगध्वंस का अभाव होने से उनका आहार युक्ताहार (योगी का आहार) है। इसप्रकार उनके युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तत्त्व-प्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं।

इस गाथा के भाव को पण्डित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया में और कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

जाको चिनमूरत सुभाव ही सों काहू काल,
काहू परदर्व को न गहै सरधान सों।
यही ताके अंतर में अनसन शुद्ध तप,
निहचै विराजै वृन्द परम प्रमान सों।।
जोग निरदोष अन्न भोजन करत तऊ,
अनाहारी जानो ताको आतमीक ज्ञान सो।
तैसे ही समितिजुत करत विहार ताहि,
अविहारी मानो महामुनि परधान सो।।१२८।।

जिन मुनिराजों के श्रद्धान में चैतन्यमूर्ति आत्मा अपने स्वभाव से ही किसी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता; इसलिए उन मुनिराजों के निश्चयनय से शुद्ध अनशन तप है; इसप्रकार वे एक प्रकार से अनाहारी ही हैं; तथापि जिसप्रकार मुनिराज भोजन का विकल्प होने पर आगमानुसार निर्दोष आहार लेते हैं, फिर भी अनाहारी माने जाते हैं; उसीप्रकार निश्चयनय से अविहारस्वभावी मुनिराज यद्यपि ईर्यासमितिपूर्वक विहार करते हैं; तथापि उन्हें अविहारी ही मानना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा, स्वयं आहार-पानी के ग्रहण से रहित है अर्थात् वह स्वयं स्वभाव से ही अनशनस्वभाववाला है ह्न ऐसे आत्मा को जानने से और

अनुभव करने से मुनिराज को सहज ही अनशन तप है तथा जब आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब भी दोषरहित युक्ताहारी होने से वे साक्षात् अनाहारी ही हैं। दोषसहित आहार उनके नहीं होता।[१]

मुनि को आहार-ग्रहण की वृत्ति पाप तो है ही नहीं; अपितु उसे अनशन नाम का तप कहा है। अपने स्वभाव में आहार नहीं है ह्न ऐसे स्वभाव को जानते हैं और भूमिका के अनुसार एषणादोषरहित आहार लेते हैं; इसलिए उनके आहार की वृत्ति को अनशन तप कहा है ह्न यह चारित्र की भूमिका का स्वरूप है।

मुनिराज अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव करते हैं और निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं; इसलिए उन्हें अबन्धस्वभावी कहा है। वस्तुतः वे आहार नहीं करते, अपितु तप करते हैं; इसप्रकार वे साक्षात् अनाहारी हैं और वे ही तपोधन हैं।[२]

इसप्रकार गाथा में तो मुनि को अनाहारी ही कहा है; परन्तु जिसप्रकार वे अनाहारी हैं; उसीप्रकार वे अविहारी भी हैं। यह बात भी इसमें आ जाती है ह्न यह समझना चाहिए।[३]''

इस गाथा में मात्र इतनी बात कही गई है कि श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है। पहली बात तो यह है कि उसका ममत्व शरीर पर न होने से वह उचित आहार ही ग्रहण करता है; इसलिए वह युक्ताहारी है। दूसरी बात यह है कि 'आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है' ह्न ऐसे परिणामरूप योग मुनिराजों के निरंतर वर्तता है; इसलिए वह श्रमण योगी है; उसका आहार युक्ताहार है, योगी का आहार है।

तात्पर्य यह है कि वह एषणा समिति पूर्वक आहार लेने से और अनशन स्वभावी होने से मुनिराज युक्ताहारी ही है।

जिसप्रकार मुनिराज युक्ताहारी ही हैं, उसीप्रकार वे युक्तविहारी भी हैं; इसप्रकार वे युक्ताहार विहारी हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१२८
२. वही, पृष्ठ-१३३ ३. वही, पृष्ठ-१३४

प्रवचनसार गाथा २२८

विगत गाथा और उसकी टीका में यह समझाया गया है कि युक्ताहार-विहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही हैं और अब इस गाथा में **उनके युक्ताहारत्व को सिद्ध करते हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं।।२२८।।

(हरिगीत)

तनमात्र ही है परिग्रह ममता नहीं है देह में।
शृंगार बिन शक्ति छुपाये बिना तप में जोड़ते।।२२८।।

देहमात्र परिग्रह है जिसके, ऐसे श्रमण ने शरीर में भी ममत्व छोड़कर उसके शृंगारादि से रहित वर्तते हुए अपने आत्मा की शक्ति को छुपाये बिना शरीर को तप के साथ जोड़ दिया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक (हठ से) निषेध नहीं करता; इसलिए केवल देहवाला होने पर भी २२४वीं गाथा में बताये गये परमेश्वर के अभिप्राय को ग्रहण करके 'वस्तुत: यह शरीर मेरा नहीं है, इसलिए अनुग्रह योग्य भी नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' ह्न इसप्रकार देह के समस्त संस्कार (शृंगार) से रहित होने से परिकर्मरहित है। इसकारण उनके देह के ममत्व पूर्वक अनुचित आहार के ग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।

दूसरे आत्मशक्ति को किंचित् मात्र भी छुपाये बिना समस्त आत्मशक्ति को प्रगट करके उन्होंने २२७वीं गाथा में कहे गये अनशनस्वभावी तप के साथ शरीर को सर्वारंभ से युक्त किया है; इसलिए आहार ग्रहण से होनेवाले

योगध्वंस का अभाव होने से उनका आहार युक्ताहार (योगी का आहार) है। इसप्रकार उनके युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते हैं।

पंडित देवीदासजी इस गाथा के भाव को ३ कुण्डलियों के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो मूलत: पठनीय हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मनहरण कवित्त में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

(मनहरण)

मुनि महाराज जू के केवल शरीरमात्र,
एक परिग्रह यह ताको न निषेध है।
ताहू सों ममत्त छाँरि वीतराग भाव धारि,
अजोग अहारादि को त्यागैं ज्यों अमेध है।।
नाना तप माहिं ताहि नित ही लगाये रहैं,
आतम शकति को प्रकाशत अवेध है।
सोई शिवसुन्दरी स्वयंवरी विधान माहिं,
मुनि वर होय वृन्द 'राधाबेध' बेध है।।१२९।।

मुनि महाराजों के एकमात्र शरीर के परिग्रह का निषेध नहीं किया गया है। उस शरीर से भी ममत्व छोड़कर वीतरागभाव को धारण करके अयोग्य आहारादि का वे पूर्णत: त्याग कर देते हैं और अनेक प्रकार के तपों में उस शरीर को लगाये रखते हैं और अभेद्य आत्मशक्ति को प्रकाशित करते हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि शिवसुन्दरी के स्वयंवर विधान में ऐसे मुनिराजों का वरण होता है, उन्हें मुक्तिसुन्दरी के वर के रूप में चुना जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे मुनिराजों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह देह मेरी नहीं है' ह्न ऐसे भानपूर्वक मुनिराज को अत्यन्त वीतरागता प्रगट होने से देह के प्रति उपेक्षाभाव वर्तता है अर्थात् उन्हें देह

के प्रति राग नहीं है। वे देह की शोभा-शृंगार नहीं करते। निज आत्मा की शक्ति को छिपाये बिना तप में लीन रहते हैं। आहार अथवा देह का एक रजकण भी मेरा नहीं है ह्न ऐसे भान सहित यथार्थ ज्ञान करते हैं। उन्हें तो अन्तर में आनंद का शांत रस उछल रहा है। मैं ज्ञायक हूँ और देहादि समस्त परज्ञेय हैं। मैं उन ज्ञेयों का नहीं हूँ और वे ज्ञेय मेरे नहीं है ह्न इसप्रकार देह और परज्ञेय दोनों की भिन्नता का भान करके वे अन्तर आनन्द के अनुभव में ठहरते हैं।

वहाँ देह की उपेक्षा होने से उन्हें शक्तिप्रमाण तप होता है।[१]

मुनिराज को हठपूर्वक देह का निषेध नहीं है; क्योंकि जबतक शरीर की योग्यता है, तबतक शरीर का संयोग बना रहता है। शरीर की ममता छूट गई है, किन्तु शरीर को ही छोड़ दूँ ह्न ऐसा हठ उनको नहीं है; अतः केवल देह मात्र का परिग्रह ही उन्हें वर्तता है।[२] ममतापूर्वक होनेवाले अनुचित आहारादि भी उनके नहीं होते। इसप्रकार उनको युक्ताहारीपना सिद्ध है।

जो आत्मा अनशनस्वभाव को जानता है, उसे अनशनस्वभावलक्षण तप वर्तता है और योगध्वंस का नाश होता है। आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है ह्न ऐसे परिणामपूर्वक परिणमन करना योगध्वंस है। श्रमण को ऐसा योगध्वंस नहीं होने से वे युक्त अर्थात् योगी हैं और उनका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।[३]''

इस गाथा में मात्र इतनी बात कही गई है कि श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है। पहली बात तो यह है कि उसका ममत्व शरीर पर न होने से वह उचित आहार ही ग्रहण करता है; इसलिए वह युक्ताहारी है। दूसरी बात यह है कि 'आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है' ह्न ऐसे परिणामरूप योग मुनिराजों के निरंतर वर्तता है; इसलिए वह श्रमण योगी है; उसका आहार युक्ताहार है, योगी का आहार है।

तात्पर्य यह है कि वह एषणा समिति पूर्वक आहार लेने से और अनशन स्वभावी होने से युक्ताहारी ही है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१३६
२. वही, पृष्ठ-१३७
३. वही, पृष्ठ-१३९

प्रवचनसार गाथा २२९

विगत गाथा में मुनिराजों को युक्ताहारी सिद्ध किया था और **अब इस गाथा में उसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं।** गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ।।२२९।।

(हरिगीत)

इकबार भिक्षाचरण से जैसा मिले मधु-मांस बिन।
अधपेट दिन में लें श्रमण बस यही युक्ताहार है।।२२९।।

मुनिराजों का वह युक्ताहार भिक्षाचरण से जैसा उपलब्ध हो जाय वैसा, रस की अपेक्षा से रहित नीरस, मधु-मांस से रहित, दिन में एकबार, अल्पाहार (ऊनोदर-अधपेट) ही होता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''दिन में एक बार आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि उतने से ही श्रामण्यपर्याय का सहकारीकारणरूप शरीर टिका रहता है। एक से अधिक बार आहार लेना युक्ताहार नहीं है; क्योंकि शरीर के अनुराग से ही अनेक बार आहार लिया जाता है; इसलिए वह आहार अत्यन्त हिंसायतन (हिंसा का आयतन ह्न घर) होने से योग्य नहीं है, युक्ताहार नहीं है तथा अनेक बार आहार लेनेवाला साधु शरीरानुराग से सेवन करनेवाला होने से योगी (युक्ताहार का सेवन करनेवाला) नहीं है।

अपूर्णोदर (ऊनोदर-अधपेट) आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वह योग का घातक नहीं है। पूर्णोदर आहार (भरपेट भोजन) प्रतिहत योगवाला होने से कथंचित् हिंसायतन होता हुआ युक्ताहार नहीं है और पूर्णोदर आहार करनेवाला प्रतिहत योगवाला होने से योगी (युक्ताहार का सेवन करनेवाला) नहीं है।

यथालब्ध (जैसा मिल गया, वैसा) आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वही आहार विशेष-प्रियतारूप अनुराग से रहित है। अयथालब्ध (अपनी पसन्द का प्रयत्नपूर्वक प्राप्त) आहार तो विशेषप्रियतारूप अनुराग से सेवन किया जाता है; इसलिए अत्यन्त हिंसायतनरूप होने से युक्ताहार नहीं है और अयथालब्ध आहार लेनेवाला विशेषप्रियता रूप अनुराग से सेवन करनेवाला होने से युक्ताहारी योगी नहीं है।

भिक्षाचरण से यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है। अभिक्षाचरण से प्राप्त आहार में आरंभ होता ही है; इसलिए हिंसायतन है; अत: वह आहार युक्ताहार नहीं है। ऐसे आहार के सेवन में अंतरंग अशुद्धि प्रगट ही है; इसलिए वह आहार करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

दिन का आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि दिन में ही ठीक से देखा जा सकता है। रात्रि में कोई वस्तु ठीक से दिखाई नहीं देती; इसलिए रात्रि का भोजन हिंसायतन होने से युक्ताहार नहीं है और रात्रि भोजन में अंतरंग अशुद्धि व्यक्त ही है; इसलिए रात्रि में भोजन करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वही अंतरंग शुद्धि युक्त है। रस की अपेक्षावाला आहार तो अंतरंग अशुद्धि से अत्यन्त हिंसायतन है; इसलिए युक्ताहार नहीं है। उसका सेवन करनेवाला, अंतरंग अशुद्धि पूर्वक सेवन करता है; इसलिए वह साधु युक्ताहारी योगी नहीं है।

मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। मधु-मांस सहित भोजन तो हिंसायतन होने से युक्ताहार नहीं है और ऐसे आहार के सेवन से अंतरंग अशुद्धि व्यक्त होने से ऐसा आहार करनेवाला साधु युक्ताहारी योगी नहीं है। यहाँ मधु-मांस हिंसायतन का उपलक्षण है; इसलिए 'मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है' ह्न इस कथन से यह समझना चाहिए कि समस्त हिंसायतन शून्य आहार ही युक्ताहार है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथा का अर्थ करने के उपरान्त कहते हैं कि **निश्चयनय से कही गई ज्ञानानन्द प्राणों की रक्षारूप और रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित भाव-अहिंसा तथा परजीवों के बहिरंग प्राणों के व्यपरोपण की निवृत्ति रूप द्रव्य-अहिंसा ह्न ये दोनों प्रकार की अहिंसा युक्ताहार में ही संभव है। इसलिए जो इससे विपरीत आहार है, वह युक्ताहार नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भावहिंसा और द्रव्यहिंसा ह्न दोनों का सद्भाव होता है।**

इस गाथा के भाव को पण्डित देवीदासजी २ छप्पय छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; पर वृन्दावनदासजी १ मनहरणकवित्त और १२ चौपाइयों में ह्न इसप्रकार कुल १३ छन्दों में विस्तार से समझाते हैं। मनहरणकवित्त में वे गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हैं और चौपाइयों में तत्त्वप्रदीपिका के कथन को अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करते हैं। उनके छन्दों को पढ़कर असल बात हाथ में रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है।

वे छन्द मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

(मनहरण)

एक बार ही अहार निश्चै मुनिराज करैं,
सोऊ पेट भरैं नाहिं ऊनोदर को गहै।
जैसो कछू पावैं तैसो अंगीकार करैं वृन्द,
भिच्छा आचरन करि ताहू को नियोग है।।
दिन ही में खात रस आस न धरात मधु,
मांस आदि सरवथा त्यागत अजोग है।
देह नेह त्यागि शुद्ध संजम के साधन को,
ऐसोई अहार शुद्ध साधुनि के जोग है।।१३०।।

मुनिराज दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, वह भी भरपेट नहीं। वे उनोदर करते हैं, पेट को बहुत कुछ खाली रखते हैं। भिक्षा में सहजभाव से जैसा जो कुछ आहार प्राप्त हो जाता है, बिना विकल्प के उसे ही ग्रहण कर लेते हैं। किसी प्रकार के सरस भोजन की आकांक्षा बिना दिन में ही

आहार लेते हैं। उनके आहार में मद्य-मांस-मधु का रंचमात्र भी संयोग नहीं होता। वे उसके सर्वथा त्यागी होते हैं। देह का नेह छोड़कर संयम की साधना के लिए ऐसा परमपवित्र आहार ही वे ग्रहण करते हैं और ऐसा आहार ही साधुओं के योग्य है।

(चौपाई)

एकै बार अहार बखाने। तासु हेत यह सुनो सयाने।
मुनिपद की सहकारी काया। तासु सुथित या तैं दरसाया ।।१३१।।
अरु जो बार-बार मुनि खाई। तबहि प्रमाददशा बढ़ि जाई।
दरव-भाव-हिंसा तब लागै। संजमशुद्ध ताहि तजि भागै ।।१३२।।
सोऊ रागभाव तजि लेई। तब सो जोग अहार कहेई।
तातैं वीतरागता धारी। ऐसे साधु गहैं अविकारी ।।१३३।।
जो भरि उदर करै मुनि भोजन। तो ह्वै शिथिल न सधै प्रयोजन।
जोग माहिं आलस उपजावै। हिंसा कारन सोउ कहावै ।।१३४।।
तातैं ऊनोदर आहारो। रागरहित मुनिरीति विचारो।
सोई जोग अहार कहा है। संजमसाधन साध गहा है ।।१३५।।
जथालाभ को हेत विचारो। आपु कराय जु करैं अहारो।
तब मनवांछित भोजन करई। इन्द्रियराग अधिक उर धरई ।।१३६।।
हिंसा दोष लगै धुव ताके। संजम भंग होहिं सब बाके।
तातैं जथालाभ आहारी। मुनि कहँ जोग जानु निरधारी ।।१३७।।
भिच्छाकरि जो असन बखानै। तहां अरंभ दोष नहिं जानै।
ताहू में अनुराग न धरई। सोई जोग अहार उचरई ।।१३८।।
दिन में भलीभांति सब दरसत। दया पलै हिंसा नहिं परसत।
रैन असन सरवथा निषेधी। दिन में जोग अहार अवेधी ।।१३९।।
जो रस आस धरै मनमाहीं। तो अशुद्ध उर होय सदा ही।
अंतरसंजमभाव सु घाते। तातैं रस इच्छा तजि खाते ।।१४०।।
मद्य मांस अरु शहद अपावन। इत्यादिक जे वस्तु घिनावन।
तिनको त्याग सरवथा होई। सोई परम पुनीत रसोई ।।१४१।।

सकल दोष तजि जो उपजै है। सोई जोग अहार कहै है।
वीतरागता तन सो धारी। गहै ताहि मुनि वृन्द विचारी ।।१४२।।

मुनिराजों के लिए जो एक बार भोजन लेने की बात कही है; उसका हेतु यह है कि मुनिपद की मर्यादा पालन के लिए काया स्वस्थ रहकर सहयोगी बने।

यदि मुनिराज बार-बार खायेंगे, अनेक बार खायेंगे तो निश्चितरूप से प्रमाददशा में वृद्धि होगी; तब उन्हें द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का दोष लगेगा। ऐसे व्यक्ति को देखकर संयम उसे छोड़कर भाग जाता है।

मुनिराज जब शुद्ध आहार भी रागभाव छोड़कर लेते हैं; तब उसे युक्ताहार कहते हैं; इसलिए वीतरागताधारी साधु ही अविकारी दशा को प्राप्त करते हैं।

यदि पेट भर के भोजन करते हैं तो शिथिलता आ जाती है और आत्मध्यानरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि भरपेट भोजन योग (आत्मध्यान) में प्रमाद पैदा करता है। अत: इसे भी हिंसा का कारण कहते हैं।

इसलिए ऊनोदर आहार ही रागरहित मुनिराजों की रीति है और उसे ही युक्ताहार कहा है तथा संयम की साधना के लिए मुनिराज उसे ही ग्रहण करते हैं।

यथालब्ध भोजन का हेतु यह है कि यदि ऐसा नहीं होगा तो स्वयं बनाने या बनवाकर मनवांछित भोजन करने से उनके हृदय में अधिक राग पैदा होगा।

ऐसे मुनिराजों को निश्चितरूप से हिंसा का दोष निरन्तर लगता रहेगा और उनका संयम भंग हो जायेगा। यही कारण है कि मुनिराजों को यथालब्ध आहारी होने से युक्ताहारी निर्धारित किया गया है।

मुनिराजों के भिक्षाचरण पूर्वक आहार की जो बात कही गई है; उसमें आरंभजनित दोष नहीं लगता। भिक्षाचरण पूर्वक लिये गये आहार में भी मुनिराज अनुराग नहीं रखते; इसकारण उनके आहार को युक्ताहार कहा गया है।

दिन में सभी वस्तुएँ भलीभांति दिखाई देती हैं; इसलिए हिंसा नहीं होती और सहजभाव से दया का पालन होता है। यही कारण है कि रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध किया गया है और दिन में आहार अनिषिद्ध बताया गया है।

यदि मन में रस (स्वाद) की आशा रखेंगे तो हृदय सदा अशुद्ध ही बना रहेगा और अन्तर में विद्यमान संयम का घात हो जावेगा। यही कारण है कि मुनिराज रसों की इच्छाओं का त्याग करके ही भोजन करते हैं।

मद्य, मांस और मधु आदि जो महा अपवित्र घिनावनी वस्तुयें हैं; उनका तो मुनिराजों के सर्वथा त्याग होता ही है। जिस रसोई में ऐसी वस्तुएँ नहीं बनतीं, वह रसोई ही परमपवित्र रसोई है।

उक्त सम्पूर्ण दोषों से रहित जो आहार बनता है; उसे ही युक्ताहार कहते हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि ऐसे आहार को वीतरागभाव के धारक मुनिराज विचार पूर्वक ग्रहण करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार कोई व्यक्ति अपने कार्य (व्यापार-धंधे) में अत्यधिक व्यस्त हो तो उसे भोजन की वृत्ति अधिक उत्पन्न नहीं होती है; उसीप्रकार मुनिराज आत्मानन्द के अंतरस्वरूप अनुभव में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अनेक बार आहार की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती है।[१] अन्तर में आहार लेना ही नहीं ह्न उन्हें ऐसा हठ नहीं है; किन्तु सहजता से ही उन्हें आहारवृत्ति टूट जाती है।[२]

मुनिराज को आहार के कारण योग का नाश नहीं होता है; अन्तर में प्रमाद या गृद्धता का भाव हो तो योग का छेद होता है। गृद्धतापूर्वक एक ही बार में पेट भरकर आहार ले लेवें ह्न ऐसी लोलुपता का भाव भी मुनिराज को नहीं होता।[३]

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१४३
२. वही, पृष्ठ-१४३ ३. वही, पृष्ठ-१४४

यदि मुनिराज को पूर्णोदर आहार हो तो प्रतिहत योगवाला होने से उसे कथंचित् हिंसायतन कहा है। आहार के कारण हिंसा नहीं है, किन्तु अन्तर में तीव्र रागभाव होने से प्रमादपूर्वक अंतर की शांति नष्ट होती है, यही हिंसा है।[१]

जैसा निर्दोष मिले, वैसा आहार मुनि को होता है। किसी विशिष्ट प्रकार का आहार हो तो ही चले ह्न ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती।[२] मुनिराज को आहार की वृत्ति उठती है तो वे मात्र क्षुधा का नाश करने हेतु आहार लेते हैं। वहाँ जैसा आहार मिल जाए, वैसा ग्रहण करते हैं।[३]

मुनिराज स्वयं भिक्षा के लिए जाते हैं। कोई जंगल में आहार देने आवे और मुनिराज आहार ले लेवें ह्न ऐसा नहीं होता अथवा कोई पात्र में आहार लेकर आवें और मुनिराज आहार ले लेवें ह्न ऐसा भी नहीं होता।[४]

दूध, दही रसयुक्त आहार हो तो ठीक है; दाँत नहीं है; अत: हलुआ आदि मिल जाए तो ठीक होगा ह्न ऐसी अपेक्षा मुनियों को नहीं होती। शरीर में रोग है; अत: किसीप्रकार का विशिष्ट आहार मिले ह्न ऐसी अपेक्षा भी उन्हें नहीं होती। मुनिराज को अन्तर में चैतन्य के ध्यान की ऐसी जमावट है कि देह और आहार से उन्हें उपेक्षा हो गई है। मुनिराज को चक्रवर्ती के समान विशिष्ट आहार मिले तो भी उन्हें उस आहार की लोलुपता नहीं होती तथा गृहस्थ श्रावक अपनी भक्ति-भावना के अनुसार जैसा आहार देते हैं, वैसा ही वे ग्रहण कर लेते है।[५]

सीधे मद्य-माँस तो मुनिराजों को नहीं होते; किन्तु उसे स्पर्शित कोई आहार भी मुनिराज नहीं लेते। मद्य के आहार में बड़ा पाप है। शास्त्र कहते हैं कि मद्य के १ बिन्दु में ६ गाँव जलाने जितना पाप लगता है। साधारण जैन को भी मद्य-माँस का भक्षण नहीं होता, यह तो महाहिंसा है। मद्य-माँस के प्रयोग से निर्मित लेप हो ह्न ऐसा भी कोई आहार या दवा मुनि को नहीं होती।[६] जिसप्रकार मद्य-माँस में हिंसा होने से उसका निषेध किया

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१४४ २. वही, पृष्ठ-१४५
३. वही, पृष्ठ-१४५ ४. वही, पृष्ठ-१४५
५. वही, पृष्ठ-१४६ ६. वही, पृष्ठ-१४६

है; उसीप्रकार वनस्पति आदि की हिंसा से युक्त आहार भी मुनि को नहीं होता।[१]

मुनि को शरीरमात्र का परिग्रह होने पर भी उस शरीर के प्रति उपेक्षा हो गई है तथा उन्हें उसके प्रति कोई विशिष्ट राग नहीं है। अन्तर में लीनता बढ़ गई है। अन्तर स्वसंवेदन आनन्द की उन्हें प्रचुरदशा वर्तती है।[२]

अरे रे! भगवान ने कहा है न; इसलिये यह सब पालन करना पड़े ह्न ऐसा मुनियों को नहीं होता; अपितु सम्पूर्ण दशा का पालन सहज होता है। हमारी जैसी सहजदशा है, वैसी भगवान ने जानी है और भगवान ने जैसी दशा का वर्णन किया, वैसी हमारी सहजदशा हुई है ह्न ऐसी मुनियों को अन्तर में सहजदशा की प्रतीति हुई है और यही उत्सर्गमार्ग है।[३]''

यद्यपि उक्त गाथा और उसकी टीका तथा वृन्दावनदासजी के छन्दों में इस गाथा का स्पष्टीकरण विस्तार से आ गया है; अत: अब उस पर और अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है; तथापि उस सबका संक्षिप्त सार यह है कि मुनिराज दिन में एक बार भिक्षावृत्ति से सरस या नीरस, मद्य-मांस से रहित, समस्त हिंसायतन से मुक्त, जैसा जो कुछ प्रासुक आहार, सहजभाव से विधिपूर्वक प्राप्त हो जाय, उसमें से अपने शरीर को टिकाने के लिए वीतराग भाव से थोड़ा-बहुत ग्रहण कर लेते हैं।

मुनिराजों का इसप्रकार का आहार ही युक्ताहार है।

इसके बाद तात्पर्यवृत्ति टीका में ३ गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं। उनमें से आरंभ की दो गाथाएँ तो मांस के दोषों को बतानेवाली ही हैं और अन्त की एक गाथा में यह कहा गया है कि पाणिगत आहार प्रासुक होने पर भी अन्य को नहीं देना चाहिए।

२२९वीं गाथा में युक्ताहार की व्याख्या करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि मधु व मांस सर्वथा त्यागने योग्य हैं।

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१४७
२. वही, पृष्ठ-१४७ ३. वही, पृष्ठ-१४७

उसी संदर्भ में प्रस्तुत आरंभ की दो गाथाओं में मांसाहार के दोषों को विस्तार से समझाया जा रहा है। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं।।३२।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं।।३३।।

(हरिगीत)

पकते हुए अर पके कच्चे माँस में उस जाति के।
सदा ही उत्पन्न होते हैं निगोदी जीव वस।।३२।।
जो पके कच्चे माँस को खावें छुयें वे नारि-नर।
जीवजन्तु करोड़ों को मारते हैं निरन्तर।।३३।।

पके, कच्चे अथवा पकते हुए मांस के टुकड़ों में, उसी जाति के निगोदिया जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

इसलिए जो पके हुए या बिना पके हुए मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा स्पर्श करता है; वह वस्तुत: अनेक करोड़ जीवों के समूह का घात करता है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में भी गाथाओं के भाव को ही दुहरा दिया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक श्रावकाचार में भी इसीप्रकार के दो छन्द प्राप्त होते हैं। लगता तो ऐसा है कि मानो उन्होंने इन्हीं गाथाओं का संस्कृत भाषा में पद्यानुवाद कर दिया है।

वे छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(आर्या छन्द)

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।६७।।
आमां वा पक्वां वा खादति य: स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सतत निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।।६८।।

कच्ची, पकी तथा पकती हुई मांसपेशियों में उसी जाति के सम्मूर्च्छन जीवों का निरन्तर उत्पादन होता रहता है। जो जीव कच्ची अथवा पकी

हुई मांस की पेशी खाता है अथवा छूता है; वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुए अनेक जाति के जीव समूह के पिंड का घात करता है।

प्रश्न ह्न क्या मुनिराजों के आहारसंबंधी चर्चा के संदर्भ में मांस-मधु की बात कुछ अटपटी नहीं लगती ? जो वस्तुएँ सामान्य श्रावक भी नहीं खाते, उनके बारे में उक्त प्रसंग में कुछ कहना.....?

उत्तर ह्न यहाँ प्रत्यक्ष मधु-मांस की बात नहीं है, अपितु त्रस जीवों के शरीर को मांस कहते हैं और असावधानी से या अमर्यादित वस्तुओं के सेवन से जो परोक्ष संभावना है, उससे सावधान रहने की बात है। इस लोक में कुछ लोग ऐसे भी तो हैं; जो इसप्रकार के आरोप तीर्थंकर मुनिराज महावीर पर भी लगाते हैं; अत: यह चर्चा यहाँ अनावश्यक नहीं है।

तीसरी गाथा इसप्रकार है ह्न

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो।।३४।।

(हरिगीत)

जिनागम अविरुद्ध जो आहार होवे हस्तगत।
नहीं देवे दूसरों को दे तो प्रायश्चित योग्य हैं।।३४।।

हाथ में आया हुआ आगम से अविरुद्ध आहार दूसरों को नहीं देना चाहिए। दे दिये जाने पर वह भोजन खाने योग्य नहीं रहता। फिर भी यदि कोई वह भोजन करता है तो वह प्रायश्चित्त के योग्य है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए टीका में लिखा गया है कि **जो हाथ में आया हुआ आहार दूसरों को नहीं देता है, उससे उसकी मोहरहित आत्मतत्त्व की भावनारूप मोहरहित-वीतरागता ज्ञात होती है।**

तात्पर्य यह है कि उसे किसी से राग ही नहीं है तो फिर वह किसी को वह आहार देगा ही क्यों ? क्योंकि राग बिना तो आहार दिया नहीं जाता।

अरे भाई ! मुनिराज तो आहार लेते हैं; देते नहीं। वे स्वयं तो आहार बनाते नहीं और उनके लिए दूसरों से प्राप्त आहार दूसरे को देने के भावरूप दया उनके वीतरागी व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं है। ●

प्रवचनसार गाथा २३०

२२९वीं गाथा में युक्ताहार की विशेषताएँ बताई गई थीं और अब इस गाथा में **उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मैत्री दिखाते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।२३०।।

(हरिगीत)

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही।
वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें।।२३०।।

बाल, वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) अथवा ग्लान ह्न रोगी श्रमण, मूल का छेद जैसे न हो, उसप्रकार अपने योग्य आचरण करें।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''बाल, वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) और रोगी श्रमणों के द्वारा भी, शुद्धात्मतत्त्व के मूल साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण किया जाना ही उत्सर्गमार्ग है। इसीप्रकार बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों के द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण किया जाना ही अपवाद मार्ग है।

बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के मूल साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण करते हुए भी शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण किया जाना अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग है।

इसीप्रकार बाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगी श्रमणों द्वारा शुद्धात्मतत्त्व के

साधनभूत संयम का मूलभूत साधन होने से शरीर का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य मृदु आचरण करते हुए भी शुद्धात्मतत्त्व के मूल साधक संयम का छेद जिसप्रकार न हो, उसप्रकार अपने योग्य अति कर्कश आचरण करना उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग है।

उक्त कथन में यह कहा गया है कि मुनिराजों को सर्वप्रकार से उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक अपने आचरण को व्यवस्थित करना चाहिए।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते दिखाई देते हैं; तथापि वे उत्सर्गमार्ग और अपवाद-मार्ग की परिभाषा सरल भाषा में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अपने शुद्धात्मा से भिन्न बहिरंग-अंतरंगरूप सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग उत्सर्गमार्ग है और उक्त उत्सर्ग मार्ग में असमर्थ मुनिराजों द्वारा शुद्धात्मा की भावना के सहकारी-कारणभूत कुछ प्रासुक आहार, ज्ञान के उपकरण आदि जिस मार्ग में ग्रहण किये जाते हैं, वह मार्ग अपवादमार्ग है।''

पण्डित देवीदासजी उक्त गाथा के भाव को ४ पंक्तियों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

(कवित्त छन्द)

बालक वा सु वृद्ध मुनि अथवा पीडित महारोग करि कोई।
कै पुनि भई तपस्या करिकैं अति ही खेद-खिन्नता सोई।।
माफिक सक्ति आचरै अपनी कोमल कठिन क्रिया जह दोई।
मैत्री भाव दुहू सौं जामैं संजिम मूल घात सु न होई।।४३।।

कोई मुनिराज यदि वे बालक हैं, वृद्ध हैं या किसी महारोग से पीड़ित हैं अथवा उग्र तपस्या करके अति खेद-खिन्न हो गये हैं; तो उनको चाहिए कि वे अपनी शक्ति के अनुसार कोमल और कठोर ह्न दोनों प्रकारों में सन्तुलन बनाकर योग्य आचरण करें; उत्सर्ग और अपवादमार्ग में मैत्रीभाव रखें, जिससे मूल संयम का घात नहीं होवे।

उक्त संदर्भ में कविवर वृन्दावनदासजी अपनी बात को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं। वे इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए १ द्रुमिल

और ९ दोहे ह्न इसप्रकार १० छन्दों का प्रयोग करते हैं। अत्यन्त उपयोगी होने से वे सभी छन्द यहाँ दिये जा रहे हैं।

(द्रुमिल सवैया)

जिन बालपने मुनि भार धरे, अथवा जिनको तन वृद्ध अती।
अथवा तप उग्र तैं खेद जिन्हें, पुनि जो मुनि को कोउ रोग हती।।
तब सो मुनि आतमशक्ति प्रमान, चरो चरिया निजजोग गती।
गुनमूल नहीं जिमि घात लहैं, सो यही जतिमारग जानु जती।।१४३।।

जिन्होंने अपने बचपन में मुनिपद का भार धारण कर लिया है अथवा जिनका तन अति वृद्ध हो गया है अथवा उग्र तपों के तपने से जो खेद-खिन्न हो गये हैं अथवा कोई भयानक रोग हो गया है; तो वे मुनिराज अपनी शक्तिप्रमाण चर्या का आचरण करें; पर इस बात का ध्यान रखें कि मूलगुणों का घात नहीं होना चाहिए। यतियों का यही मार्ग सही मार्ग है ह्न हे यतिवर्ग ! ऐसा जानो।

(दोहा)

अति कठोर आचरन जहँ, संजम रंग अभंग।
सोई मग उतसर्ग जुत, शुद्धसुभाव-तरंग।।१४४।।
ऐसी चरिया आचरैं, तेई मुनि पुनि मीत।
कोमल मग में पग धरैं, देखि देह की रीत।।१४५।।
निज शुद्धातमतत्त्व की जिहि विधि जानै सिद्ध।
सोई चरिया आचरैं, अनेकांत के वृद्ध।।१४६।।
अरु जे कोमल आचरन, आचरहीं अनगार।
तेऊ पुनि निज शकति लखि, करहिं कठिन आचार।।१४७।।
संजम भंग न होय जिमि, रहै मूलगुन संग।
शुद्धातम में थिति बढ़ै, सोइ मग चलहि अभंग।।१४८।।
कठिन क्रिया उतसर्ग्गमग, कोमलमग अपवाद।
दोनों मग पग धारहीं सुमुनि सहित मरजाद।।१४९।।
तब जैसी तन की दशा, देखहिं मुनि निरग्रंथ।
तब जैसी चरिया चरैं, सहित मूलगुन पंथ।।१५०।।

जो दोनों मग के विषैं, होय विरोध प्रकास।
तो मुनिमारग नहिं चलै, समुझो बुद्धिविलास।।१५१।।
ज्यों दोनों पग सों चलत, मारग कटत अमान।
त्यों दोनों मग पग धरत, मिलत वृन्द शिवथान।।१५२।।

जहाँ संयम के अभंग रंग में अति कठोर आचरण होता है और जिसमें शुद्ध भावों की तरंगे उठती हैं; वह मार्ग ही उत्सर्गमार्ग है।

यदि कोई मुनिराज देह की स्थिति को देखकर कोमल पथ पर चलते हैं, तदनुसार चर्चा का आचरण करते हैं तो वह मार्ग अपवादमार्ग है।

अनेकान्त के जानकार निज शुद्धात्मा की जिसप्रकार सिद्धि हो; उसीप्रकार का आचरण करें।

जो मुनिराज कोमल आचरण का पालन करते हैं; वे भी अपनी शक्ति को देखकर यथासाध्य कठोर आचरण का पालन करते हैं।

मुनिराज अभंग रूप से उसी पथ पर चलते रहते हैं कि जिसमें संयम का भंग न हो, मूलगुण भी पलते रहें और शुद्धात्मा में स्थिरता बढ़ती रहे।

उत्सर्गमार्ग कठोर क्रियारूप है और अपवादमार्ग कोमल आचरण रूप है। मुनिराज उचित मर्यादा में दोनों में चलते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनिराज जब जैसी शरीर की स्थिति देखते हैं, तब मूल गुणों के पंथ पर चलते हुए उसीप्रकार की चर्या का आचरण करते हैं।

यदि उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग ह्न इन दोनों मार्गों में विरोध होगा तो मुनिमार्ग नहीं चल पायेगा ह्न इस बात को बुद्धि में धारण कर लेना चाहिए।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि जिसप्रकार दोनों पैरों से चलते हुए अमाप मार्ग भी कट जाता है; उसीप्रकार उक्त दोनों मार्गों में चलते हुए मुनिराजों को मुक्तिधाम मिल जाता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो मुनिराज छोटी वय के हैं, वृद्ध हैं, थके हुए हैं अथवा रोगी हैं ह्न

ऐसे मुनियों को भी शुद्धात्मध्यान का ही ख्याल रहता है। शुद्धात्मतत्व का साधनभूत, जिससे संयम का छेद न हो ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण ही वे आचरते हैं, यही उत्सर्गमार्ग है।[१] शरीर में शक्ति न हो और हठ करके आकुलता उत्पन्न हो ह्न ऐसा मुनिराजों को नहीं होता। सहज वीतरागभाव से अपनी शक्ति छिपाये बिना जितना होता है, वे उतना करते हैं अर्थात् अपनी शक्ति के योग्य मृदु आचरण आचरते हैं, यही अपवाद मार्ग है।

उग्र प्रयत्नपूर्वक वीतराग परिणामों में ठहरना ही उत्सर्ग मार्ग है। जो वीतराग परिणामों में नहीं ठहर सकता और जिसे शुभविकल्प उत्पन्न होते हों, उसे अपनी शक्ति का विचार करके परिणामों में खेद नहीं करके कोमल आचरण करना चाहिए ह्न यही अपवादमार्ग है।[२]

मुनियों को उत्सर्ग आचरण ही मुख्य है। उत्सर्ग में स्थिर नहीं हो सके, तब मृदु आचरण आचरना ह्न यह अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग है।[३] हठपूर्वक शरीर का छेद न हो और संयम भी टिका रहे ह्न इस रीति का मृदु आचरण आचरते हुए कर्कश आचरण भी आचरना चाहिए। शक्ति हो तो शिथिल नहीं होना चाहिए। यह उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है।[४]

स्वभाव में लीनता बढ़ती जाए और खेद भी न हो ह्न ऐसे दोनों प्रकार का विवेक रखकर मुनिराज वर्तन करते हैं।[५]''

उक्त गाथा में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराजों के संदर्भ में चार मार्गों की चर्चा की है ह्न १. उत्सर्गमार्ग, २. अपवादमार्ग, ३. अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और ४. उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग।

शुद्धोपयोगरूप सातवें और उसके आगे के गुणस्थानों में उत्सर्गमार्ग ही होता है, जो साक्षात् मुक्ति का कारण है। तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्ध परिणति के साथ रहनेवाले शुभोपयोगरूप छठवें

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, वही, पृष्ठ-१५०
२. वही, पृष्ठ-१५२ ३. वही, पृष्ठ-१५३
४. वही पृष्ठ-१५४ ५. वही, पृष्ठ-१५४

गुणस्थान में अपवादमार्ग होता है; जो देवलोक आदि का कारण है। इसप्रकार मुनिराज अपवादमार्ग से उत्सर्गमार्ग में और उत्सर्गमार्ग से अपवादमार्ग में जाते-आते रहते हैं।

यहाँ मूल बात यह है कि बाल, वृद्ध, थकित और रोगी मुनिराज इनमें से कौनसा मार्ग अपनाये ? इसका समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि वे अपवाद सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और उत्सर्ग सापेक्ष अपवादमार्ग को अपनायें।

यदि कोई मुनिराज उत्सर्गमार्ग के हठ से अतिकर्कश आचरण के पालने से मृत्यु को प्राप्त हो गये तो उनका संयम नष्ट हो जायेगा; क्योंकि देवलोक में संयम होता ही नहीं है; अत: यदि संयम की रक्षा करनी है तो ऐसा कठोर आचरण करने का हठ नहीं रखना चाहिए कि जिससे देह ही छूट जाये।

इसीप्रकार मृदु आचरण के लोभ से यदि एकान्तत: मृदु आचरण ही रखा, तब भी संयम कायम नहीं रह सकेगा। इसलिए समझदारी इसी में है कि **अपनी शक्ति अनुसार अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग और उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद मार्ग को अपनाया जाना चाहिए।** ●

जो अपना नही है, उससे हम कितना ही राग क्यों न करें, राग करने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता। जो अपना है, उससे हम कितना ही द्वेष क्यों न करें, द्वेष करने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता।

जो अपना है सो अपना है, जो पराया है सो पराया है।

इसीप्रकार जो अपना है, उसे पराया मानने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता और जो पराया है, उसे अपना मानने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता; क्योंकि जो अपना है, वह त्रिकाल अपना है; जो पराया है, वह त्रिकाल पराया है। **ह्न गागर में सार, पृष्ठ-२४-२५**

प्रवचनसार गाथा २३१

विगत गाथा में यह कहा गया है कि उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में मैत्री पूर्वक आचरण होने से मुनिधर्म में सुस्थितपना रहता है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **यदि इनमें परस्पर मैत्री न रहे, विरोध रहे तो मुनिमार्ग में सुस्थितपना नहीं रहेगा।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।२३१।।

(हरिगीत)

श्रमण श्रम क्षमता उपधि लख देश एवं काल को।
जानकर वर्तन करे तो अल्पलेपी जानिये।।२३१।।

जो श्रमण आहार अथवा विहार में; देश, काल, श्रम, क्षमता और उपधि को जानकर प्रवर्तन करते हैं; वे अल्पलेपी होते हैं

आचार्य अमृतचंद्र तत्त्वप्रदीपिका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''क्षमता और ग्लानता का हेतु उपवास है और बालत्व और वृद्धत्व की अधिष्ठान शरीररूप उपधि है; इसलिए यहाँ टीका में बाल, वृद्ध, श्रान्त और ग्लान ही लिये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि मूल गाथा में क्षमा और उपधि शब्द हैं; तथापि टीका में उनका आशय लेकर बाल, वृद्ध, श्रान्त और ग्लान शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से उसे अल्पलेप होता ही है, लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता; इसलिए उत्सर्गमार्ग ही अच्छा है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्धत्व-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से

आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो उसे मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्पलेप ही होता, अधिक लेप नहीं होता; इसलिए अपवादमार्ग ही अच्छा है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से किये जानेवाले आहार-विहार से होनेवाले अल्पलेप के भय से अपवादमार्ग में प्रवृत्ति न करे तो अति कर्कश आचरण से अक्रम से शरीर का पात करके देवलोक में चला जाता है। वहाँ उसे समस्त संयमामृत का वमन हो जाता है और तप करने का अवकाश ही नहीं रहता है; इसकारण महान लेप होता है, क्योंकि वहाँ उसका प्रतिकार अशक्य है; इसलिए अपवाद निरपेक्ष उत्सर्गमार्ग श्रेष्ठ नहीं है।

यदि देश-कालज्ञ भी बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से किये जानेवाले आहार-विहार से होनेवाले अल्पलेप को न गिनकर अपवादमार्ग में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणरूप होकर असंयत जनों के समान संयम विरोधी होने से उस समय तप करने का अवकाश ही नहीं रहता है; इसकारण महानलेप होता है; क्योंकि उसका प्रतिकार अशक्य है। इसलिए उत्सर्ग निरपेक्ष अपवादमार्ग श्रेष्ठ नहीं है।

इसलिए उत्सर्ग और अपवाद के परस्पर विरोध से होनेवाला दुस्थित आचरण सर्वथा निषेध्य है, त्यागने योग्य है। इसीलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग से जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ह्न ऐसा स्याद्वाद ही सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए पूर्णत: तत्त्वप्रदीपिका टीका का अनुसरण करते हैं।

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया में और कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण, ४ चौपाई और २१ दोहे ह्न इसप्रकार २६ छन्दों में विस्तार से समझाते हैं। यद्यपि सभी छन्द मूलत: पठनीय हैं; तथापि यहाँ सभी को देना तो संभव नहीं है; अत: मूल विषय को सरल भाषा में स्पष्ट करनेवाले कतिपय महत्त्वपूर्ण दोहे दिये जा रहे हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

कोमल ही मग के विषैं, जो इकंत बुधि धार।
अनुदिन अनुरागी रहै, अरु यह करै विचार।।१५८।।
कोमल हू मग तो कही, जिन सिद्धान्त मँझार।
हम याही मग चलहिंगे, यामें कहा बिगार।।१५९।।
तो वह हठग्राही पुरुष, संजमविमुख सदीव।
शकति लोपि करनी करत, शिथिलाचारी जीव।।१६०।।
ताको मुनिपद भंग है, अनेकांतच्युत सोय।
बाँधे करम विशेष सो, शुद्ध सिद्ध किमि होय।।१६१।।

अपवाद मार्ग के पक्षपाती कोई मुनिराज यदि कोमल मार्ग में चलने का एकान्त आग्रह रखते हुए उसी के अनुरागी बन कर रहते हैं और यह सोचते हैं कि जैनसिद्धान्त में कोमल आचरण को भी मार्ग कहा है; इसलिए हम तो अकेले इसी पर चलेंगे। अकेले इसी पर चलने में क्या हानि है ?

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाला वह पुरुष हठग्राही है, संयम से सदा विमुख है और वह शिथिलाचारी जीव अपनी शक्ति का लोप करके मनमानी करनी करता है। उस पुरुष का मुनिपद भंग ही है, वह अनेकान्त से च्युत होकर विशेष कर्मों का बंध करता है; उसे शुद्धता की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

(दोहा)

अरु जे कठिनाचार ही, हठकरि सदा करात।
कोमल मग पग धारतें, लघुता मानि लजात।।१६२।।
देशकालवपु देखिकै, करहिं नाहिं आचार।
अनेकांत सों विमुख सो, अपनो करत बिगार।।१६३।।
वह अति श्रम तैं देह तजि, उपजैं सुरपुर जाय।
संजम अम्रत वमन करि, करम विशेष बँधाय।।१६४।।
तातैं करम बँधे अलप, सधै निजातम शुद्ध।
सोई मग पग धारियो, संजम सहित विशुद्ध।।१६५।।

उत्सर्गमार्ग के पक्षपाती कोई मुनिराज सदा हठपूर्वक कठोर आचरण का पालन करते हैं और कोमल मग में कदम रखते हुए हीन भावना ग्रस्त होकर लज्जित होते हैं तथा देश-काल और अपने शरीर की स्थिति देखकर आचरण नहीं करते हैं; वे भी अनेकान्त से विमुख होकर अपना बिगाड़ करते हैं।

वे मुनिराज अत्यधिक परिश्रम के कारण देह को तजकर देवलोक में चले जाते हैं। वहाँ जाकर संयम अमृत का वमन करके विशेष कर्मों का बंध करते हैं।

इसलिए जिस पथ में अपने शुद्धात्मा की सिद्धि के साथ-साथ कर्म भी अल्प बँधे; उस संयम सहित विशुद्ध पथ में अपने कदम बढाओ।

(दोहा)

है सरवज्ञ जिनिंद को, अनेकांत मत मीत।
तातैं दोनों पंथ सों, हे मुनि राखो मीत।।१६६।।
कहुँ कोमल कहुँ कठिन व्रत, कहुँ जुगजुत वरतंत।
शुद्धातम जिहि विधि सधै, वह मुनिमग सिद्धंत।।१६७।।
संजमभंग बचायकै, देश काल वपु देखि।
कोमल कठिन किया करो, करम न बँधे विशेखि।।१६८।।
अरु अस हठ मति राखियो, संजम रहै कि जाहि।
हम इक दशा न छाँड़ि हैं, सो यह जिनमत नाहि।।१६९।।
जैसो जिनमत है सोई, कहो तुम्हैं समुझाय।
जो मग में पग धारि मुनि, पहुँचे शिवपुर जाय।।१७०।।

हे मित्र ! यह अनेकान्त मत सर्वज्ञ भगवान जिनेन्द्रदेव का है; इसलिए हे मुनिराजो ! उत्सर्ग और अपवाद ह्न दोनों पंथों से मित्रता रखो।

हे मुनिवरो ! जिसप्रकार शुद्धात्मा की सिद्धि हो ह्न ऐसे कभी कोमल, कभी कठोर और कभी दोनों प्रकार के आचरण को एकसाथ पालन करो; क्योंकि मुनिपथ का यही सिद्धान्त है।

संयम के भंग को बचाकर कोमल आचरण और देश-काल व शरीर

को देख कर कठोर आचरण किया करो; क्योंकि ऐसा करने से कर्मों का विशेष बंध नहीं होता।

ऐसा हठ कभी मत रखना कि संयम चाहे रहे, चाहे चला जाय; हम कोमल या कठोर ह्न दोनों में से एक मार्ग का आचरण करेंगे; क्योंकि जिनमत में ऐसा नहीं है।

जैनमत में जैसा मार्ग बताया गया है; उसे हमने तुम्हें समझाकर बता दिया है। यह वही मार्ग है; जिस पर चलकर अनेक मुनिराज शिवपुर (मोक्ष में) पहुँच गये हैं।

(दोहा)

कहूँ अकेलो है यही, जो मारग अपवाद।
कहूँ अकेलो लसतु है, जो उतसर्ग अनाद।।१७१।।
कहुँ उतसर्ग समेत है, यहु मारग अपवाद।
कहुँ अपवाद समेत है, मग उतसर्ग अवाद।।१७२।।
ज्यों संजमरच्छा बनत, त्यों ही करहिं मुनीश।
देशकालवपु देखि कै, साधहिं शुद्ध सुईश।।१७३।।
पूरव जे मुनिवर भये, ते निजदशा निहार।
दोनों मग की भूमि में, गमन किये सुविचार।।१७४।।
निज चैतन्यस्वरूप जो, है सामान्य विशेष।
ताही में थिर होय के, भये शुद्ध सिद्धेश।।१७६।।
जो या विधि सों और मुनि, ह्वै सुरूप में गुप्त।
सो निज ज्ञानानंद लहि, करै करम को लुप्त।।१७७।।

यहाँ चार प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं। कहीं अकेला अपवादमार्ग होता है और कहीं अकेला उत्सर्गमार्ग शोभायमान होता है ह्न यह अनादि की स्थिति है। कहीं उत्सर्ग सहित अपवादमार्ग होता है और कहीं अपवाद सहित उत्सर्गमार्ग होता है।

जिसप्रकार संयम की रक्षा हो, मुनिराज वैसा ही करते हैं। वे देश, काल और शरीर की स्थिति को देखकर शुद्धात्मा की साधना करते हैं।

पूर्वकाल में जो मुनिराज हो गये हैं; उन्होंने अपनी स्थिति को देखकर विचारपूर्वक दोनों मार्गों की भूमि पर विचरण किया है।

सामान्य-विशेषात्मक निज चैतन्यस्वरूप में स्थिर होकर मुनिराजों ने शुद्ध सिद्धपद की प्राप्ति की है।

अन्य मुनिराज भी इस विधि को अपनाकर, स्वरूप में गुप्त होकर, कर्मों का लोप करके अपने ज्ञानानंद को प्राप्त कर सकते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जब मुनिराज शुद्धभाव में स्थिर नहीं होते, तब हठरहित शुभोपयोग आता है, उससे अल्पबंधन होता है। तीव्रबंधन नहीं होता; इस अपेक्षा से अपवाद अच्छा है; किन्तु अबंधपने की अपेक्षा से तो अल्पबंधन भी अच्छा नहीं है अर्थात् वास्तव में तो एकमात्र उत्सर्ग मार्ग ही अच्छा है तथा तीव्र बंधन की अपेक्षा से अल्प बंधन रूप अपवादमार्ग अच्छा है। अतः मुनिराज विवेकपूर्वक उत्सर्ग के समय उत्सर्ग में और अपवाद के समय अपवाद में वर्तते हैं।[१]

यह जीव एकांत उत्सर्ग में ही वर्तने का हठ करें और छठवें गुणस्थान में कोई विकल्प आये और उसका विवेक न रखें तो हठपूर्वक देह छूटकर स्वर्ग में जायेगा और वहाँ असंयमी होगा। असंयमीपने में तो तीव्र बंधन ही है; इसलिये विवेक की डोरी हाथ में रखो। चैतन्य की दृष्टि और ज्ञान करके विवेकपूर्वक वर्तन करो।[२]

स्वभाव में लीनता करना उत्सर्गमार्ग है और विकल्प उत्पन्न होने पर २८ मूलगुणों का पालन करना अपवादमार्ग है।

वीतरागी भगवान का मार्ग अनेकान्तस्वरूप है। अपने परिणामों की जाँच करके जैसे भी लाभ हो, उसप्रकार से आचरण करना ही भगवान का उपदेश है। शारीरिक स्थिति सबल अथवा निर्बल हो तो भी एक ही प्रकार से वर्तन करना ह्न ऐसा जिनमार्ग नहीं है। शारीरिक स्थिति निर्बल हो तो अधिक विहार अथवा तप नहीं करना, इसीप्रकार शिथिलता न आवे ह्न

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१५८ २. वही, पृष्ठ-१५९

इसका ख्याल रखना चाहिए ह्न ऐसा ही मुनिमार्ग है।[१]''

इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि जबतक शुद्धोपयोग में पूर्णत: लीन न हो जाय, तबतक साधना के लिए उत्सर्ग और अपवादमार्ग की मित्रता को साधना चाहिए। अपनी निर्बलता का लक्ष्य रखे बिना उत्सर्ग मार्ग के आग्रह से अति कर्कश आचरण का हठ नहीं रखना चाहिए।

इसीप्रकार उत्सर्गरूप ध्येय की उपेक्षा कर मात्र अपवाद के आश्रय से शिथिलता का सेवन भी नहीं करना चाहिए। इसप्रकार वर्तन करना चाहिए कि जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता भी न हो। हठ से कठोर आचरण और शिथिलता से कोमल आचरण ह्न दोनों में ही संयम का नाश होता है।

अत: न तो उत्सर्ग के हठ से कठोर आचरण करना चाहिए और न अपवाद के छल से अति मृदु आचरण करना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्तरूप है; इसलिए अपनी स्थिति का विचार कर जो भी लाभकर लगे, उसप्रकार से आचरण करना चाहिए।

इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक महाधिकार में समागत **आचरण प्रज्ञापन अधिकार का समापन करते हुए तत्त्वप्रदीपिका टीका में एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न**

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्वीह्वी: पृथग्भूमिका:।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यति: सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम्।।१५।।

(मनहरण कवित्त)

उतसर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।
भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है।।
पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो।
उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं।।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१६१

चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप।
जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में।।
क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके।
सभी ओर से सदा वास करो निज में।।१५।।

हे मुनिवरो ! इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा पृथक्-पृथक् अनेक भूमिकाओं में व्याप्त चारित्र को प्राप्त करके, क्रमशः अतुलनिवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्य-विशेषरूप से प्रकाशित निजद्रव्य में चारों ओर से स्थिति करो।

आचरणप्रज्ञापनाधिकार के समापन पर लिखे गये इस छन्द में इस अधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उत्सर्ग और अपवाद की मैत्रीवाले इस मुक्तिमार्ग को पुराणपुरुषों ने विशेष आदरपूर्वक अपनाकर मुक्ति प्राप्त की है; इसलिए हे मुनिजनो! तुम भी उन्हीं के समान जगत से पूर्ण निवृत्ति लेकर सामान्य-विशेषात्मक निजद्रव्य में स्थिति करो, लीन हो जाओ।

एकमात्र इसमें ही सार है, शेष सब असार संसार है।

इसप्रकार चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक महाधिकार में समागत आचरणप्रज्ञापनाधिकार समाप्त होता है। ●

आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार जहाँ हमारी रुचि है, हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं।

यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी। **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-४९**

मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २३२ से गाथा २४४ तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

जिनध्वनि से निज आत्मा जो जाने वे जीव।
नित आतमरत अनुभवी रत्नत्रयी सदीव।।

आगम और परमागम के अध्ययन-मनन की प्रेरणा देनेवाले इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार में आरंभ की गाथाओं में आगम के अभ्यास की उपयोगिता पर भरपूर प्रकाश डालकर उसके बाद आनेवाली गाथाओं में यह बताया जायेगा कि परमागम में प्रतिपादित आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली आत्मानुभूति के बिना अकेले आगम के अभ्यास से कुछ भी होनेवाला नहीं है। यद्यपि यह परम सत्य है कि आगम के अभ्यास बिना वस्तु का सही स्वरूप समझ में आना संभव नहीं है, अतः आगम का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है; तथापि **मुक्ति तो परमागम के अभ्यास पूर्वक होनेवाले शुद्धोपयोग से ही होगी, आगम-परमागम के अभ्यासरूप शुभभाव से नहीं।**

इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार की पहली गाथा और ग्रन्थाधिराज प्रवचनसार की २३२वीं गाथा की उत्थानिका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि **श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ह्न ऐसे एकाग्रता लक्षणवाले मोक्षमार्ग के प्रज्ञापन अधिकार में सबसे पहले मोक्षमार्ग के मूल साधनभूत आगम में व्यापार कराते हैं।** तात्पर्य यह है कि आगमाभ्यास करने की प्रेरणा देते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।२३२।।

(हरिगीत)

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।
भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है।।२३२।।

एकाग्रता को प्राप्त पुरुष श्रमण होते हैं और एकाग्रता पदार्थों के निश्चय करनेवाले को ही होती है तथा पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है; इसलिए आगम का अभ्यास ही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है, मुख्य है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

''एकाग्रता को प्राप्त व्यक्ति ही श्रमण होता है और एकाग्रता पदार्थों का निश्चय करनेवाले व्यक्ति को ही होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिए आगम का अध्ययन ही प्रधान है; क्योंकि अन्य कोई गति (उपाय) नहीं है।

वस्तुत: बात यह है कि आगम के अभ्यास बिना पदार्थों का निश्चय (निर्णय) नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह आगम ही त्रिकाल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन लक्षण वाले समस्त पदार्थों के सम्यक् ज्ञान द्वारा सुस्थित है, अंतरंग से गंभीर है।

दूसरी बात यह है कि पदार्थों के निश्चय विना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है; वह कभी तो पदार्थों के निश्चय करने की इच्छा से आन्दोलित होता हुआ चंचल और व्याकुल रहता है, कभी पर में कुछ करने की इच्छारूप ज्वर के परवश होता हुआ समस्त पदार्थों को स्वयं सर्जन की इच्छा करता हुआ विश्व व्यापाररूप परिणमित होने से प्रतिक्षण क्षुब्ध रहता है और कभी भोगने की इच्छा से भावित होता हुआ विश्व को स्वयं भोगरूप ग्रहण करके राग-द्वेषरूप कलुषित चितवृत्ति के कारण वस्तुओं के इष्ट-अनिष्ट विभाग द्वारा द्वैत प्रवर्तित करता हुआ प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त होता है; इसलिए उस अनिश्चयी जीव के कृतनिश्चय, निष्क्रिय और निर्भोग अर्थात् युगपद विश्व को पी जाने पर भी विश्वरूप न होनेवाले उस एक निर्भोग आत्मा को नहीं देखने से निरन्तर व्यग्रता ही रहती है, एकाग्रता नहीं होती।

और एकाग्रता के बिना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है, वह पुरुष 'यह अनेक ही है' ह्न ऐसा श्रद्धान करता हुआ इसप्रकार के विश्वास से आग्रही, इसीप्रकार की ज्ञानानन्दानुभूति से भावित और इसीप्रकार के विकल्प से खण्डित चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ इसप्रकार के चारित्र से दु:स्थित होता है; इसलिए उसे एक आत्मा की प्रतीति, अनुभूति और प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से प्रवर्तमान दृशि-ज्ञप्ति-वृत्तिरूप एकाग्रता नहीं होने से शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही नहीं होता।

अत: मोक्षमार्गरूप श्रामण्य की सिद्धि के लिए मुमुक्षुओं को भगवान श्री अरहंत सर्वज्ञकथित अनेकान्तमयी शब्दब्रह्म में निष्णात होना चाहिए।''

प्रश्न – गाथा और टीका में अकेले आगम के अभ्यास की ही प्रेरणा दी गई है; तो क्या पदार्थों का निश्चय करने के लिए परमागम के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर – अरे भाई ! परमागम भी आगम का ही अंग है; अत: आगम कहने पर उसमें अध्यात्म का प्रतिपादक परमागम भी समाहित हो जाता है। हो सकता है कि आचार्य जयसेन के सामने भी इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित हुआ हो; यही कारण है कि यद्यपि वे इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट करते हैं; तथापि यह स्पष्ट करना नहीं भूलते कि **पदार्थों का निश्चय न केवल जीव और कर्मों के भेदों का प्रतिपादन करनेवाले आगम के अभ्यास से ही होता है, अपितु ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले अध्यात्म नामक परमागम से भी होता है; अत: आगम और परमागम ह्न दोनों का अभ्यास करना चाहिए।**

यद्यपि यह बात सत्य ही है; तथापि यहाँ मुख्यरूप से आगमाभ्यास की ही प्रेरणा दी गई है; क्योंकि आगे चलकर आचार्यदेव स्वयं परमागम के अभ्यास की महिमा स्थापित करते हुए कहेंगे कि **आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान निरर्थक है।**

पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में इस गाथा के भाव को जिनागम के अभ्यास की प्रेरणा देते हुए मात्र एक ही छन्द में प्रस्तुत कर आगे बढ जाते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका के भाव को प्रस्तुत करते हुए २ मनहरण कवित्त और ८ दोहे ह्न इसप्रकार कुल १० छन्द लिखते हैं; जिनमें १ मनहरण छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

सरवज्ञभाषित सिद्धांत विनु वस्तुनि को,
जथारथ निहचै न होत सरवथा है।
बिना सर्वदर्वनि को भलीभांति जानै कहो,
कैसे निज आतमा को जानै श्रुति मथा है।।
याही तैं मुनिंदवृन्द शब्दब्रह्म को अभ्यासि,
आपरूप जानि तामें होहि थिर जथा है।
तातैं शिवमारग को मूल जिन आगम है,
ताको पढ़ो सुनो गुनो यही सार कथा है।।६।।

सर्वज्ञभासित सिद्धान्तों को माने बिना वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानना संभव नहीं है और सभी पदार्थों का स्वरूप भली-भांति जाने बिना शास्त्रों के मंथन से जानने में आनेवाले अपने आत्मा का स्वरूप कैसे जाना जा सकता है ?

वृन्दावन कवि कहते हैं कि इसीलिए मुनिगण शब्दब्रह्मरूप आगम का अभ्यास करके अपने आत्मा को जानकर उसी में स्थिर हो जाते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि मुक्तिमार्ग का मूल जिनागम है; उसी को पढो, सुनो और गुनो अर्थात् उसी का मंथन करो ह्न इसी में सार है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए समस्त द्रव्यश्रुत को सामान्यरूप

से आगम कहा गया है। द्रव्यश्रुत के आगम और परमागम ऐसे दो भेद होते हैं। जीव तथा कर्मों के भेद को बतानेवाले द्रव्यश्रुत को आगम और समस्त आगम के सारभूत चिदानन्द एक भगवान आत्मा के प्रकाशक अध्यात्मरूप द्रव्यश्रुत को परमागम कहते हैं।[१]

जिसे आगम का अभ्यास नहीं है, पदार्थों का निर्णय नहीं है; उस अज्ञानी जीव को अपना आत्मा जानने-देखनेवाला है ह्न ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता नहीं है। उसकी श्रद्धा अनेकरूप है, वह अनेक प्रकार से जानता है और अनेक विकल्पों से अपनी परिणति को खण्ड-खण्ड करता है। उसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप प्रवर्तनेवाली एकाग्रता नहीं होती। वह स्व-पर की भिन्नता को नहीं जानता।

जो आत्मा की श्रद्धा करें, उसे ही धर्म होता है ह्न ऐसे आत्मा की जिसे प्रतीति हो, उसे व्यग्रता नहीं होती, एकाग्रता रहती है।[२]

इसप्रकार भगवान आत्मा कृतनिश्चयी, निष्क्रिय, निर्भोग, सभी को युगपद् जाननेवाला, अनंत को जानने पर भी ज्ञान की अनंतता समाप्त नहीं हुई ह्न ऐसा अनेक को जानते हुए भी एकरूप रहनेवाला है; किन्तु जिस अज्ञानी जीव को आगम का अभ्यास नहीं है, आत्मा के स्वभाव का ज्ञान नहीं है; वह आत्मा के कृतनिश्चयी, निष्क्रिय, निर्भोग स्वरूप की श्रद्धा नहीं करता।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि **आगम और परमागम के अभ्यास बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता और पदार्थों के निश्चय बिना अश्रद्धा जनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषा जनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता बिना एक आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और वर्तनरूप शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता; इसलिए मुमुक्षुओं का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रम्हरूप आगम और परमागम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।** ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१७७
२. वही, पृष्ठ-१७३
३. वही, पृष्ठ-१७०

प्रवचनसार गाथा २३३

विगत गाथा में सर्वज्ञकथित आगम के अभ्यास की प्रेरणा दी गई; क्योंकि आगम के अभ्यास बिना वस्तुस्वरूप समझना संभव नहीं है और अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढाते हुए कह रहे हैं कि **आगमहीन श्रमण के कर्मों का क्षय संभव नहीं है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।२३३।।

(हरिगीत)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहिं जानते।
वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहिं जानते।।२३३।।

आगमहीन श्रमण आत्मा (स्वयं) को और पर को नहीं जानता। स्व-पर पदार्थों को नहीं जाननेवाला भिक्षु कर्मों का क्षय किसप्रकार कर सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वस्तुत: बात यह है कि आगम के अभ्यास बिना न तो स्व-परभेदविज्ञान होता है और न त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मा का ही ज्ञान होता है। परात्मज्ञान (भेदविज्ञान) और परमात्मज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्रव्य मोहादि और भाव मोहादि कर्मों अथवा ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का क्षय नहीं होता। अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं ह्न

अनादि निरवधि संसारसरिता के प्रवाह को बहाने वाले महामोहमल्ल से मलिन यह आगमहीन जगत, धतूरा पिये हुए मनुष्य की भांति विवेक के नाश को प्राप्त होने से विवेकशून्य ज्ञानज्योति से यद्यपि देखता है; तथापि उसे स्वपरनिश्चायक आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण आत्मा में आत्मप्रदेशस्थित शरीरादि द्रव्यों में तथा उपयोग-

मिश्रित मोह-राग-द्वेषादि भावों में 'यह पर है और यह आत्मा (स्व) है' ह्न ऐसा ज्ञान (भेदज्ञान) सिद्ध नहीं होता तथा परमात्मनिश्चायक आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण विचित्र पर्यायों के समूहरूप और अगाध गंभीर स्वभाववाले विश्व को ज्ञेय बनानेवाले प्रतापवंत ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

इसप्रकार परात्मज्ञान और परमात्मज्ञान से शून्य आत्मा को द्रव्यकर्मों के उदय से होनेवाले शरीरादि और तत्संबंधी मोह-राग-द्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने के कारण वध्य-घातक भाव के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य-भावकर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता; तथा परज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तु के उत्पाद-विनाशरूप परिणमित होने से अनादिकाल से परिवर्तन को प्राप्त ज्ञप्ति का परिवर्तन परमात्मनिष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप कर्मों का क्षय भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए कर्मक्षयार्थियों को सभीप्रकार से आगम की उपासना करना चाहिए।''

आचार्य जयसेन विगत गाथा में कही गई अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए इस गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में गोम्मटसार : जीवकाण्ड की गाथा २ और दोहापाहुड की गाथा १२८ का उल्लेख करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं ह्न

''गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और १४ मार्गणायें तथा उपयोग ह्न ये क्रम से बीस प्ररूपणायें कही गई हैं।[१] जो व्यक्ति उक्त गाथा में कहे गये आगम को नहीं जानता और इसीप्रकार जिसके द्वारा अपने शरीर से भिन्न अपना परमार्थ, परमपदार्थ भगवान आत्मा नहीं जाना गया; वह अंधा व्यक्ति दूसरे अंधों को क्या मार्ग दिखायेगा ?[२]

इसप्रकार जो पुरुष दोहापाहुड में कहे गये आगमपद के सारभूत

---

१. गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा।। ह्न गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. २

२. भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं अंधयह किम दरिसावइ पंथु।। ह्न दोहापाहुड, गाथा १२८

अध्यात्मशास्त्र को नहीं जानता; वह पुरुष..कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। इसकारण मोक्षार्थियों को परमागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में भी आगम के साथ-साथ अध्यात्म के प्रतिपादक परमागम के अभ्यास की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं।

इस गाथा के भाव को भी पंडित देवीदासजी एक छोटे से छन्द में ही निपटा देते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मत्तगयन्द सवैया और २ तेईसा कवित्त ह्न इसप्रकार ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। नमूने के तौर पर एक छन्द इसप्रकार है ह्न

(मत्तगयन्द सवैया)

जो मुनि को नहीं आगमज्ञान, सो तो निज औ पर को नहिं जानै।
आपु तथा पर को न लखै तब, क्यों करि कर्म कुलाचल भानै।।
जासु उदै जगजाल विषैं, चिरकाल बिहाल भयो भरमाने।
तातैं पढ़ो मुनि श्रीजिनआगम, तो सुखसों पहुँचो शिवथानै।।१५।।

जिन मुनिराजों को आगमज्ञान नहीं है, वे मुनिराज न तो स्वयं को जानते हैं और न पर को ही जानते हैं। जब वे स्व-पर को ही नहीं जानते तो फिर वे जिन कर्मों के उदय से चिरकाल से बेहाल होकर भ्रम में पड़कर जगजाल में फंसे पड़े हैं; उन कर्मरूपी पर्वतों को कैसे जान सकते हैं ? इसलिए हे मुनिजनो ! तुम जिनागम को पढो। ऐसा करोगे तो सहजभाव से मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भगवान की वाणी (आगम) के बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, शरीर और कर्मादि मुझसे पर हैं, आत्मा स्व है और विकार पर है और आत्मा सकल लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वभावी परमपदार्थ है ह्न ऐसा ज्ञान भगवान की वाणी बिना नहीं होता। जिसे स्वपरभेदविज्ञान अर्थात् परात्मज्ञान नहीं है ह्न ऐसे

जीव को मोहनीय आदि जड़ कर्मों का, राग-द्वेषादि भावकर्मों का तथा अपूर्णज्ञानरूप कार्य का नाश नहीं होता।[१]

स्व-पर के भेदविज्ञान में सच्चा आगम निमित्त होता है तथा आगम का उपदेशक भी ऐसा होना चाहिए जो स्व-पर का भेदविज्ञान करावे; क्योंकि जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, उसे धर्म नहीं हो सकता।[२]

आगम का मर्म समझकर आगम की उपासना करे तो स्वपर भेदविज्ञान होकर राग-द्वेषादि भावकर्म, निमित्तरूप द्रव्यकर्म तथा ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का भी नाश होता है।[३] इसप्रकार उक्त तीनों कर्मों का नाश करने के लिए स्वलक्ष्यपूर्वक सत्समागम से यथार्थता के साथ आगम का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ मात्र 'आगमपूर्वक' न कहकर 'ज्ञानियों के श्रीमुख से आगम का यथार्थ उपदेश समझकर निर्णय करे तो स्वानुभव हो' ह्न ऐसा कहा है; किन्तु अज्ञानी जीव को उसका भान नहीं है।[४] अतः मोक्ष के अर्थी जीवों को यथातथ्यरूप शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए। सभी प्रकार से सर्वज्ञ द्वारा कथित आगम का सेवन करना चाहिए।[५]''

सब कुछ मिलाकर इस गाथा और उसकी टीकाओं में एक ही बात कही गई है कि जिस श्रमण को आगम और परमागम का ज्ञान नहीं है; वह श्रमण न तो सही रूप में स्वयं को ही जानता है और न पर को ही जानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जाने बिना अर्थात् दोनों के बीच भेदज्ञान किये बिना कर्मों का नाश कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि कर्मों के नाश के लिए स्व और पर के बीच की सीमा रेखा जानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इस सीमा रेखा को जाने बिना स्व का ग्रहण और पर का त्याग कैसे संभव है ?

कर्मों का नाश कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान और स्व और पर के बीच में भेदविज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; इसलिए आत्मज्ञान और भेदविज्ञान के लिए आत्मार्थियों को आगम और परमागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१८० २. वही, पृष्ठ-१८७
३. वही, पृष्ठ-१८९ ४. वही, पृष्ठ-१९० ५. वही, पृष्ठ १९१

प्रवचनसार गाथा २३४

विगत गाथा में उक्त तथ्य को प्रस्तुत करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहने जा रहे हैं कि **सर्वतो चक्षु (सिद्ध भगवान) बनने के लिए आगमचक्षु होना अनिवार्य है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु।।२३४।।

(हरिगीत)

साधु आगमचक्षु इन्द्रियचक्षु तो सब लोक है।
देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं।।२३४।।

साधु आगमचक्षु होते हैं, सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षु हैं और सिद्ध भगवान सर्वत:चक्षु हैं।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''प्रथम तो इस लोक में शुद्धज्ञानमय होने से सिद्ध भगवान ही सर्वत:चक्षु हैं; शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं; क्योंकि उन सभी की दृष्टि तो मूर्त पदार्थों में ही लग रही है। देवगण सूक्ष्म मूर्त द्रव्यों को देखते-जानते हैं; इसलिए अवधि चक्षु कहे जाते हैं; तथापि वे मूर्त द्रव्यों को ही देखते-जानते हैं, इसलिए एक प्रकार से इन्द्रियचक्षु ही हैं। इसप्रकार ये सभी संसारी जीव मोह से उपहत ज्ञेयनिष्ठ होने से ज्ञाननिष्ठ शुद्धात्मसंवेदन से सधनेवाले सर्वत:चक्षु नहीं हो सकते।

उक्त सर्वत:चक्षु बनने के लिए ही श्रमण आगमचक्षु होते हैं। ज्ञान में ज्ञेयों के ज्ञात होने से ज्ञान और ज्ञेयों में जो सम्मिलन हुआ है; उसके कारण यद्यपि उनमें भेद करना सहज नहीं है, अशक्य जैसा ही है; तथापि वे श्रमण आगमचक्षु से स्वपरविभाग करके महामोह को भेदते हुए परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं। अत: मुमुक्षुओं को सबकुछ आगमचक्षु

से ही देखना चाहिए।''

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने विशेष कुछ नहीं कहा है।

इसीप्रकार कविवर वृन्दावनदासजी और देवीदासजी के कथनों में भी कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सर्वत: चक्षुपना अर्थात् केवलज्ञान प्रगट करने हेतु भगवान ने मुनिराज को आगमचक्षु कहा है।[१] शरीर व विकार पर है तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप है ह्न ऐसे भान सहित जिन्हें स्वरूप में विशेष अन्तर स्थिरता बढ़ी है ह्न ऐसे भावलिंगी मुनियों को असंख्यप्रदेशी केवलज्ञान प्रगट करने के लिए आगमचक्षु कहा है।

वे संत सर्वप्रथम ज्ञानचक्षु से स्व-पर का विभाग करके महामोह का नाश करते हैं तथा ज्ञाननिष्ठ आत्मा को स्व और शुभाशुभभावों को ज्ञेयरूप जानते हैं। ज्ञेय ज्ञान में जानने में न आयें ह्न ऐसा होना असंभव है; अतः आगमचक्षु से स्व-पर का विभाग करके महामोह का जिन्होंने नाश किया है ह्न ऐसे मुनिराज परमात्मस्वरूप को पाने के लिए ज्ञानस्वभाव के सन्मुख रहते हैं। यही मोक्षमार्ग और मोक्ष का साधन है।[२]

साधारण जीवों की दृष्टि मूर्त पदार्थों पर ही होती है। वे इन्द्रियों से ही देखते हैं; किन्तु अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव को नहीं देखते और चैतन्य को जाने बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता।[३]

मुनिराज आगमचक्षु से महाव्रतादि भावों को ज्ञेयरूप और आत्मा को ज्ञानरूप जानते हैं। शरीर में रोग हो, विकार हो अथवा क्रोध उत्पन्न हो तो उसे स्वप्न के समान जानकर शरीर की अवस्था जानते हैं। शरीर व विकार को अपना नहीं मानते; किन्तु उसको जानें ही नहीं ह्न ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वभावी है। ज्ञान अपने स्व

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१९७
२. वही, पृष्ठ-१९७
३. वही, पृष्ठ-१९८

सामर्थ्य से स्व-पर की पहिचान करके ही मोह का नाश करता है।[१]

मुनिराज सतत् दया-दानादि विकल्पों को छोडकर ज्ञाननिष्ठ अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की एकतारूप ही रहते हैं; अत: मुमुक्षुओं को आगम-चक्षु का आश्रय लेना चाहिए।[२]''

इसतरह हम देखते हैं कि इस गाथा का सम्पूर्ण बल आगम और परमागम के अभ्यास पर ही है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान से भी ऐसा कुछ जानने में नहीं आता कि जो मुक्तिमार्ग की साधना में उपयोगी हो। तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखी इन्द्रियज्ञान तो आत्महितकारी है ही नहीं, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान की भी यही स्थिति है; क्योंकि वे भी बहिर्मुखी हैं; मात्र पुद्गल को ही देखते-जानते हैं।

आगम के अभ्यासरूप श्रुतज्ञान ही एकमात्र ऐसा ज्ञान है कि जो आत्महित में साधन बनता है; उसमें सहयोगी मतिज्ञान को भी इसमें शामिल कर सकते हैं। भले ही ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान हों, पर हैं उपयोगी; पर प्रत्यक्षज्ञान होने पर भी अवधि और मन:पर्ययज्ञान उपयोगी नहीं; क्योंकि वे मात्र पुद्गल को ही जानते हैं, सबको नहीं; जबकि मति-श्रुतज्ञान का विषय सभी पदार्थ हैं।

हाँ, यहाँ एक प्रश्न अवश्य हो सकता है कि सिद्धों के समान अरहंत भगवान भी तो सर्वत:चक्षु ही हैं ?

हाँ, हैं, अवश्य हैं; क्योंकि वे भी अतीन्द्रिय ज्ञानी (केवलज्ञानी) हैं; उन्हें यहाँ सिद्धों में ही शामिल समझना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-१९८ २. वही, पृष्ठ-१९९

शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारणभूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े-बहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्बंध कहा गया है।

ह्न सारसमयसार, पृष्ठ-१२

प्रवचनसार गाथा २३५

विगत गाथा में कही गई बात का ही समर्थन इस गाथा में किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि **आगमरूप चक्षु से सभी कुछ दिखाई देता है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा।।२३५।।

(हरिगीत)

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित।
जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित।।२३५।।

अनेकप्रकार की विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगमसिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा देखकर ही जानते हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सभी द्रव्य आगम द्वारा जाने जाते हैं; क्योंकि सभी द्रव्य विशेष स्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं। आगम से वे सभी द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं; क्योंकि सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक अनेकान्तमय होने से आगम को प्रामाणिकता प्राप्त है। इसलिए सभी पदार्थ आगमसिद्ध ही हैं।

वे सभी पदार्थ श्रमणों को स्वयमेव ही ज्ञेयभूत होते हैं; क्योंकि श्रमण विचित्र गुणपर्यायवाले सभी द्रव्यों में व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं। तात्पर्य यह है कि आगम चक्षुओं से कुछ भी अदृश्य नहीं है, अगम्य नहीं है।''

आचार्य जयसेन भी इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं। इसीप्रकार प्रवचनसार परमागम और प्रवचनसारभाषाकवित्त में भी कोई विशेष बात नहीं है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''केवली, सिद्ध, संत, नारकी, निगोदिया आदि अनंत जीव, परमाणु से लेकर महास्कन्ध तक पुद्गल द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु ह्न ये समस्त द्रव्य हैं। आजतक अनंत जीव सिद्ध हुए; किन्तु उससे भी अनंतगुणा संसार में भटक रहे हैं। परमाणु भी अनंत है। यह आगमसिद्ध बात है।[१] समस्त द्रव्यों में विद्यमान सहवर्ती गुण और क्रमप्रवृत्त पर्यायों का वर्णन आगम में प्राप्त होता है। आगम में प्रत्येक द्रव्य के अनेकान्तमय अनंत धर्मों का कथन प्राप्त होता है।[२]

समस्त पदार्थ आगमसिद्ध और मुनियों के ज्ञान में ज्ञात हैं; क्योंकि विचित्र गुण पर्यायवाले सभी द्रव्यों और उनके अनेक धर्मों को जानने की सामर्थ्य भावश्रुतज्ञान में है।[३] केवली भगवान एक समय में समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रत्यक्ष परिपूर्ण जानते हैं, अतः सर्वज्ञ प्रत्यक्ष ज्ञान से परिपूर्ण हैं। मुनिराज परोक्षज्ञान से जानते हैं; अतः वे परोक्षज्ञान में परिपूर्ण हैं तथा वीतराग की वाणी वस्तुस्वरूप को कहने की सामर्थ्यवाली है; अत: वाणी भी परिपूर्ण है।

आत्मा और जड़ की भिन्नता का ज्ञान आगमपूर्वक होता है। द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय का ज्ञान भी आगम से ही होता है। शरीरादि पर हैं, पुण्य-पाप उपाधिभाव हैं और एक शुद्ध आत्मा ही निरुपधि तत्त्व है ह्न ऐसा ज्ञान आगम द्वारा ही होता है। आगम का परिपूर्ण ज्ञान मुनिराजों को वर्तता है, अतः उन्हें आगमचक्षु कहते हैं।[४]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि आगम और परमागम के अभ्यास से सभी पदार्थों को जाना जा सकता है; अत: श्रमणजन आगम-चक्षु होते हैं। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-५, पृष्ठ-२०१
२. वही, पृष्ठ-२०२-२०३
३. वही, पृष्ठ-२०४
४. वही, पृष्ठ-२०५

प्रवचनसार गाथा २३६

विगत गाथाओं में आगमज्ञान की प्रतिष्ठा स्थापित करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि **आगमज्ञानपूर्वक तत्त्वश्रद्धान और ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक संयम ह्न इसप्रकार ज्ञान, श्रद्धान और संयम की एकता ही मोक्षमार्ग है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ।।२३६।।

(हरिगीत)

जिनागम अनुसार जिनकी दृष्टि न वे असंयमी।
यह जिनागम का कथन है वे श्रमण कैसे हो सकें।।२३६।।

'इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है, उसके संयम भी नहीं हो सकता' ह्न ऐसा सूत्र में कहा है तथा जो असंयत है, वह श्रमण कैसे हो सकता है?

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जो जीव स्याद्वादमयी आगमज्ञानपूर्वक होनेवाली तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणवाली दृष्टि से शून्य हैं, उनके संयम ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि स्वपर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता के अध्यवसायी वे जीव विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह काय के जीवों के हिंसक होकर सब ओर से प्रवृत्ति करते हैं; इसलिए उनके सर्वत: निवृत्ति का अभाव है। तात्पर्य यह है कि उनके किसी भी ओर से किंचित्मात्र भी निवृत्ति नहीं है।

दूसरे परमात्मज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेयों को क्रमश: जाननेवाली निरर्गल ज्ञप्ति होने से ज्ञानरूप आत्मतत्त्व में एकाग्रता की प्रवृत्ति का अभाव है। इसकारण उनके भी संयम सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार उन्हें

जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है ह्न ऐसा सुनिश्चित एकाग्र परिणतिरूप श्रामण्य ही सिद्ध नहीं होता। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम ह्न इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथार्थ तो गाथा और तत्त्व-प्रदीपिका टीका के अनुसार ही करते हैं, तथापि **'तथाहि'** लिखकर जो स्पष्टीकरण करते हैं; वह इसप्रकार है ह्न

'' 'दोष रहित अपना आत्मा ही उपादेय है' ह्न ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व जिसे नहीं है, वह परमागम के बल से ज्ञानरूप आत्मा को स्पष्ट जानता हुआ भी सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञानी भी नहीं है। इसप्रकार इन दोनों के अभाव से पंचेन्द्रिय विषयों की इच्छा और षट्काय के जीवों के घात से निवृत्त होने पर भी वह संयत नहीं है।''

ह्न ऐसा लिखकर भी वे अन्त में निष्कर्ष इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''इससे यह निश्चित हुआ कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना ह्न इन तीनों का युगपद्पना (एकसाथ होना) ही मुक्ति का मार्ग है।''

पण्डित देवीदासजी तो इस गाथा के भाव को एक छन्द में प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लेते हैं; पर वृन्दावनदासजी गाथा और टीका के भाव को १ मनहरण, १ माधवी और १० दोहा ह्न इसप्रकार १२ छन्दों में विस्तार से समझाते हैं; जो सभी मूलत: पठनीय हैं।

नमूनों के तौर पर एक दोहा इसप्रकार है ह्न

तातैं आगमज्ञान अरु तत्त्वारथसरधान।
संजम भाव इकत्र जब तबहिं मोखमग जान।।३४।।

इसलिए आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभाव ह्न इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मुनिपना अथवा संयमीपना

आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतापूर्वक ही प्रगट होता है। आत्मा के भान बिना पाँच इन्द्रियों का निरोध, व्रत, तपादि कुछ भी कार्यकारी नहीं है। संयोग व राग से रहित अरागी आत्मतत्त्व की आगमपूर्वक श्रद्धा और रमणता हो तो मुनिपना होता है ह्न यही मोक्षमार्ग है।[१]

जिन्हें स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उनके भले ही पाँच इन्द्रिय और विषयादि का संयोग दिखाई नहीं देता हो, छह काय के जीवों की द्रव्य हिंसा भी नहीं दिखाई देती हो, साथ ही शरीर और संयोगादि से कदाचित् निवृत्ति दिखाई देती हो; फिर भी शरीर और विकार के साथ एकत्वबुद्धि करनेवाले जीवों को वास्तव में पाँच इन्द्रिय और विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं है। रागादिभावरूप भावहिंसा का रंचमात्र भी अभाव नहीं होने से उन्हें परभावों से बिल्कुल भी निवृत्ति नहीं है।[२]

वह कदाचित् निर्दोष आहार लेता हो, पाँच समिति का पालन करता हो, किसी जीव का घात करते हुए दिखाई न भी देता हो; फिर भी वह छहकाय के जीवों का घाती है; क्योंकि शरीर और पुण्य-पाप से रहित मेरा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है ह्न ऐसा न मानकर वह निज चैतन्य प्राणों का घात करता है।[३]

इसप्रकार आगम का ज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और अंतरस्थिरता इन तीनों के युगपत्पने से ही मोक्षमार्ग होने का नियम है।[४]''

उक्त गाथा का सार मात्र इतना ही है कि जिस श्रमण को स्याद्वादमयी आगम के अभ्यास और आत्मानुभूतिपूर्वक आत्मज्ञान नहीं है; वह श्रमण भले ही जिनागमानुसार आचरण करे, व्रतादि का पालन करे, उपवासादि तपश्चरण करे; तथापि उसके संयम होना संभव नहीं है, सम्यक्चारित्र होना संभव नहीं है और इन तीनों की एकता बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता; अत: उक्त श्रमण के मोक्षमार्ग नहीं होने से श्रामण्य भी नहीं है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२०७
२. वही, पृष्ठ २१०
३. वही, पृष्ठ-२११
४. वही, पृष्ठ २१३

प्रवचनसार गाथा २३७

'आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम की एकता ही मोक्षमार्ग है' ह्न विगत गाथा में यह समझाने के उपरान्त अब इस गाथा में इसी बात को नास्ति से समझाते हैं। कहते हैं कि **आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के अभाव में मोक्षमार्ग घटित नहीं होता।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।२३७।।

(हरिगीत)

जिनागम से अर्थ का श्रद्धान ना सिद्धि नहीं।
श्रद्धान हो पर असंयत निर्वाण को पाता नहीं।।२३७।।

यदि आगम से पदार्थों का श्रद्धान न हो तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी और संयम के बिना पदार्थों का श्रद्धान करनेवाले को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होगी।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''श्रद्धानशून्य आगमज्ञान से सिद्धि नहीं होती और आगमज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रद्धान से भी संयमशून्य व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

अब इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं ह्न

आगम के आधार पर सम्पूर्ण पदार्थों का सतर्क विशेष स्पष्टीकरण करता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा की प्रतीति नहीं करता तो आत्मा के श्रद्धान से शून्य होने के कारण, आत्मा का अनुभव नहीं करनेवाला वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञानविमूढ जीव ज्ञानी कैसे हो सकता है, ज्ञेयों का प्रकाशक आगम उक्त अज्ञानी जीव के लिए क्या कर सकता है ?

अत: यह सुनिश्चित ही है कि श्रद्धान शून्य आगमज्ञान से कुछ भी सिद्धि नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा का श्रद्धान करता हुआ भी, आत्मा का अनुभव करता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति अपने में ही संयमित होकर नहीं रहता; तो अनादि मोह-राग-द्वेष की वासना जनित परद्रव्य में भ्रमण करती स्वेच्छाचारी चित्तवृत्तिवाला वह जीव, वासनारहित स्व में ही रत एक निष्कंप तत्त्व में लीन चित्तवृत्ति का अभाव होने से संयत कैसे हो सकता है ? इसप्रकार के असंयत व्यक्ति का, आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान और आत्मा की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या कर सकता है ? इससे यह सुनिश्चित होता है कि संयमशून्य ज्ञान-श्रद्धान से भी सिद्धि नहीं होती।

इसप्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम के युगपदपने का अभाव होने पर मोक्षमार्ग घटित नहीं होता।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को दीपक के उदाहरण से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'' 'कुएं में गिरने से बचना ही हितकर है' ह्न इसप्रकार की श्रद्धा से रहित व्यक्ति का दीपक क्या कर सकता है ? उसीप्रकार आगम से आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ व्यक्ति भी यदि 'एक मात्र मेरा आत्मा ही मेरे लिए उपादेय है' ह्न ऐसे श्रद्धान से रहित हो, तो आगम उसका क्या कर सकता है ?

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार वही दीपक सहित पुरुष अपने पौरुष के बल से कुएं में गिरने से बचता नहीं है तो उसका श्रद्धान, दीपक व नेत्र (दृष्टि) क्या कर सकते हैं ? उसीप्रकार यह ज्ञान-श्रद्धान सहित जीव भी स्वरूपस्थिरता के बल से रागादि विकल्प रूप असंयम से निवृत्त नहीं होता है तो उसके ज्ञान और श्रद्धान क्या कर सकते हैं ?

इससे यह सिद्ध होता है कि परमागम के ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और

संयतत्व में से दो या एक से मोक्ष नहीं होता, अपितु तीनों की एकता से ही होता है।''

वैसे तो कविवर वृन्दावनदासजी इस प्रवचनसार परमागम में सर्वत्र ही सूक्तियों का समुचित प्रयोग करते रहे हैं; फिर भी इस प्रकरण में तो वे कुछ विशेष उत्साहित नजर आते हैं। वे यहाँ **'सूत न कपास करे कोरी सों लठालठी'** **'जैसे दृगहीन नर जेवरी वटतु है'** और **'जैसे मन चंगा तो कठौती माँहि गंगा है'** आदि लोकप्रिय सूक्तियों की झड़ी लगा देते हैं।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं ह्न

(मनहरण)

तत्त्वनि में रुचि परतीति जो न आई तो धौं,
कहा सिद्ध होत कीन्हें आगम पठापठी।
तथा परतीति प्रीति तत्त्वहू में आई पै न,
त्यागे राग दोष तौ तो होत है गठागठी।।
तबै मोखसुख वृन्द पाय है कदापि नाहिं,
तातैं तीनों शुद्ध गहु छांड़ि के हठाहठी।
जो तू इन तीन विन मोक्षसुख चाहै तौ तो,
सूत न कपास करै कोरी सों लठालठी।।३७।।

जबतक तत्त्वश्रद्धान नहीं हुआ, तबतक आगम के पठन-पाठन से क्या होता है? यदि तत्त्वों की प्रतीति भी हुई, तत्त्वप्रेम भी हुआ; पर राग-द्वेष नहीं छोड़े तो भी क्या होनेवाला है ? वृन्दावन कवि कहते हैं कि ज्ञान, श्रद्धान और संयम ह्न इन तीनों को धारण किये बिना मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए हठ छोड़कर तीनों को ग्रहण करो। यदि तू इन तीनों के बिना मोक्षसुख चाहता है तो तेरी अवस्था वैसी ही होगी कि जैसी उसकी हुई थी, जिसके पास न तो सूत (डोरा) ही था, न कपास (रुई) ही था; पर जो कपड़ा बनाने के लिए कोरी के साथ लठालठी (लाठियों से झगड़ा) कर रहा था।

तात्पर्य यह है कि व्यर्थ के विवाद करने से कोई लाभ नहीं होगा; क्योंकि मुक्ति तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से ही प्राप्त होगी।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

आगम ज्ञान होने पर भी जो आत्मा की प्रतीति नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, धर्म नहीं होता। उस जीव को आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह ज्ञानविमूढ़ अज्ञानी है। ज्ञेयों का ही प्रकाशक है; अत: उसे आगम क्या करेगा? अतः आत्मा की श्रद्धा से शून्य मात्र आगमज्ञान से सिद्धि नहीं होती।[१]

सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ वीतरागी चारित्र नहीं होने से धर्मी जीव को उस भव में मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है।[२]

समकिती को अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का त्याग होता है; किन्तु खाने-पीने या अन्य कार्य करने संबंधी रागभाव असंयमभाव, अत्यागभाव है। धर्मी जीव को भान है कि परपदार्थ भिन्न हैं, राग मेरा स्वरूप नहीं है; फिर भी वह असंयमी है; अतः संयमशून्य श्रद्धान या ज्ञान से मोक्ष नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। यह जिसे नहीं है, उसे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं है।

इसप्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व इन तीनों की एकता जिसे नहीं है; उसे मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।[३]''

इस गाथा का अभिप्राय मात्र यह है कि न तो आगम से पदार्थों के ज्ञान-श्रद्धान बिना मुक्ति की प्राप्ति होती है और न संयम के बिना आगमानुसार ज्ञान-श्रद्धान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। मुक्ति की प्राप्ति तो मात्र उन्हीं को होती है; जिनके आगम के अनुसार आत्मानुभूतिपूर्वक हुए ज्ञान-श्रद्धान के साथ-साथ शुद्धोपयोगरूप संयम भी हो।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता और परिपूर्णता ही मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२२०
२. वही, पृष्ठ-२२२ ३. वही, पृष्ठ २२२

प्रवचनसार गाथा २३८

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ह्न इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है' ह्न विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह कहते हैं कि **उक्त तीनों के युगपत् होने पर भी मुक्ति का साधकतम कारण तो आत्मज्ञान ही है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।।२३८।।

(हरिगीत)

विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें श्वासोच्छ्वास में।
अज्ञ उतने कर्म नाशे जनम लाख करोड़ में।।२३८।।

जितने कर्म अज्ञानी सौ हजार करोड़ भवों में क्षय करता है; उतने कर्म ज्ञानी तीन योग (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से, त्रिगुप्ति का धारी होने से उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अज्ञानी के जितने और जो कर्म क्रमपरिपाटी से और अनेकप्रकार के बालतपादिरूप उद्यम से पकते हुए, उपात्त राग-द्वेष से सुख-दुखादि विकारभावरूप परिणमित होने से आगामी कर्मों को बांधते हुए एक लाख-करोड़ भवों में महाकष्ट से कटते हैं; ज्ञानी के उतने और वही कर्म आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभाव के युगपत्पने के अतिशय प्रसाद से प्राप्त हुई शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञानीपन से और मन-वचन-कायरूप तीन गुप्तियों के सद्भाव से, राग-द्वेष के छोड़ने से समस्त सुख-दु:खादिरूप विकार अत्यन्त निरस्त होने से; आगामी कर्मबंध न करता हुआ उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है।

इससे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व के युगपत् होने पर

भी आत्मज्ञान को ही मोक्षमार्ग में साधकतम स्वीकार करना चाहिए।''

उक्त गाथा के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदास भी इस गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका के भाव को प्रवचनसार परमागम में ३ मनहरण छन्दों में विस्तार से स्पष्ट करते हुए सोदाहरण समझाते हैं; जो मूलत: पठनीय हैं।

पंडित देवीदासजी एक छन्द में इस गाथा के भाव को संक्षेप में प्रस्तुत कर देते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(कवित्त छन्द)

जे अग्यान जीव यह जग में अद्भुत क्रियाकांड करि लीन।
सौ हजार कोटि भव तिन्हिके तितने कर्म होत हैं हीन।।
ग्यानी आप विषैं सु होहि थिर क्रिया रोध जोगनि की तीन।
जितनैं कर्म करतु सो बुध भवि पुनि उस्वास मांहिं इक छीन।।५३।।

इस जगत में अद्भुत क्रियाकाण्ड में लीन अज्ञानी जीव सौ हजार करोड़ अर्थात् एक लाख करोड़ भवों में जितने कर्मों से हीन होता है; उतने ही कर्मों को बुद्धिमान भव्य ज्ञानी जीव मन-वचन-कायरूप तीन योगों के निरोध पूर्वक अपने में स्थिर होकर एक उच्छ्वास मात्र में क्षीण कर देता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''टीका में लाख ह्न कोटी भवों का अर्थ अनंत भव ही ग्रहण करना है।[१]

आत्मा का यथार्थ ज्ञान किए बिना शास्त्र का ज्ञान करे, नव तत्त्वों की श्रद्धा करे अथवा पंच महाव्रत पाले, फिर भी कल्याण नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव अज्ञान से तप, दया, दान, यात्रा करता है; किन्तु इन समस्त क्रियाकांड के कारण वह कर्मों को बढ़ा रहा है।

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२२६

आत्मा के भान बिना इन्द्रियों का दमन किया, शरीर को कृष किया; किन्तु इससे जन्म-मरण का अन्त नहीं होता।

यहाँ मात्र पुराने कर्म उदय में आकर खिरते हैं और राग-द्वेष की कर्त्ताबुद्धि के कारण पुनः नवीन कर्मबंधन होता है।[१]

जिन कर्मों को अज्ञानी अनंतभवों में दूर नहीं कर सकता ह्न ऐसे कर्मों का ज्ञानी शीघ्र ही मूलतः नाश करते हैं, इसी का नाम धर्म है, संवर-निर्जरा है।[२]

यहाँ ऐसा कहा है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्त्व ह्न इन तीनोंपूर्वक आत्मज्ञान हो तो ही मोक्षमार्ग होता है। आत्मज्ञान के बिना उक्त तीनों हो तो भी वह कार्यकारी नहीं है, फिर जिन जीवों के आगमज्ञान का ही ठिकाना नहीं है, उनकी तो क्या बात करें?[३]

अज्ञानी को अनेक कष्ट होने पर भी कर्मों का क्षय नहीं होता; किन्तु ज्ञानी के अल्प समय में ही कर्मों का क्षय होता है। मैं आत्मा चैतन्यस्वभावी हूँ, शरीरादि तथा शुभाशुभभाव मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मैं सभी को जाननेवाला हूँ, विकल्पों में तन्मय रहे बिना ही मैं जानता हूँ ह्न ऐसी सच्ची दृष्टि होने पर थोड़े समय में लीलामात्र में ही ज्ञानी कर्मों का नाश करता है।

अज्ञानी अनुकूल संयोगों में हर्ष और प्रतिकूल संयोगों में खेद करता है; अतः वह हर्ष-विषाद का भोक्ता है, उसे नवीन कर्मों का बंध होता है। ज्ञानी किसी भी संयोग को अनुकूल या प्रतिकूल नहीं मानता, वह उसका ज्ञाता रहता है; अतः उसे नवीन कर्मबंधन नहीं होता। इसप्रकार आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है।[४]''

इसप्रकार उक्त सभी ग्रन्थों में 'अनेक प्रतिकूलताओं में उग्र तप करते हुए भी अज्ञानी जीव के जितने कर्मों का नाश एक लाख करोड़ भवों में होता है; उतने कर्मों को ज्ञानी त्रिगुप्ति के बल से श्वांसमात्र में क्षय कर देता है' ह्न यह कहा गया है; किन्तु छहढाला नामक ग्रन्थ में पण्डित

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२२६
२. वही, पृष्ठ २२९
३. वही, पृष्ठ २२९
४. वही, पृष्ठ-२३२

दौलतरामजी **एक लाख करोड़ भवों** के स्थान पर मात्र **एक करोड़ भव** की बात करते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है ह्न

कोटि जनम तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।

आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक निरन्तर तप करते रहने पर भी अज्ञानी के जो और जितने कर्म झड़ते हैं; वे और उतने ही कर्मों को ज्ञानीजन त्रिगुप्ति के बल से क्षण भर में नष्ट कर देते हैं।

यदि इस अन्तर को हम यह कहकर टाल दें कि छन्द में स्थान की कमी के कारण ऐसा हो गया होगा; तथापि एक बात यह भी तो है कि अज्ञानी के निर्जरा होती ही कहाँ हैं; जिससे ज्ञानी की निर्जरा की तुलना की जा सके? **वस्तुतः बात यह है कि बालतपादि के काल में अज्ञानी के जो कर्म झड़ते हैं; उस काल में आगामी कर्मबन्धन होते रहने से उक्त कर्म के झड़ने को मुक्ति के कारणरूप निर्जरा कहना मात्र उपचरित कथन ही है।**

एक बात यह भी विचारणीय है कि तप मुख्यतः मनुष्य गति में होता है और जब यह जीव दो हजार सागर को त्रसपर्याय प्राप्त करता है; तब उसमें मनुष्य के भव तो मात्र ४८ ही होते हैं। ऐसी स्थिति में एक लाख करोड़ भव होना कैसे संभव होगा?

वस्तुतः बात यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहित तप की निरर्थकता तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित तप की महिमा बताने के लिए ही उक्त कथन किया गया है।

यदि यह सत्य है तो फिर एक करोड़ और एक लाख करोड़ से क्या फर्क पड़ता है; क्योंकि दोनों कथनों से हमारे चित्त में सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक किये गये तप से होनेवाली निर्जरा की महिमा तो आ ही जाती है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जो आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में **शत सहस कोटि (एक लाख करोड़) भवों** की बात कहते हैं; वे ही आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड की पाँचवीं गाथा में **एक हजार**

करोड़ वर्ष की बात लिखते हैं। दर्शनपाहुड़ की उक्त गाथा इसप्रकार है ह्न

सम्मत्तविरहिया णं सुठ्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।५।।

(हरिगीत)

यद्यपि करें वे उग्रतप शत-सहस-कोटि वर्ष तक।
पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व विरहित साधु सब।।५।।

एक हजार करोड़ वर्ष तक उग्र तपरूप आचरण करते हुए भी सम्यक्त्व रहित साधु पुरुष बोधिलाभ को प्राप्त नहीं करते।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दर्शनपाहुड़ की गाथा में तो यह लिखा है कि एक हजार करोड़ वर्ष तप करते हुए भी सम्यक्त्व से रहित होने के कारण अज्ञानी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करते और यहाँ प्रवचनसार में अज्ञानी के एक लाख करोड़ भवों तक तप करके कर्म झड़ने और ज्ञानी के श्वांस मात्र में उतने ही कर्म झड़ने की बात है।

इन दोनों कथनों में महान अन्तर है; क्योंकि एक मनुष्य भव में एक करोड़ वर्ष तो हो सकते हैं; क्योंकि चौथे काल के आरंभ में मनुष्यों की आयु एक करोड़ पूर्व तक हो सकती है। भगवान ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व थी। परन्तु एक लाख करोड़ मनुष्य भव होने में तो अपरिमित काल लग सकता है; क्योंकि दो हजार सागर में तप करने योग्य तो अधिक से अधिक २४ भव ही मिलते हैं। उसके बाद एकेन्द्रिय पर्याय में चले जाने पर अपरिमित काल तक दुबारा त्रसपर्याय में आना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में आप कल्पना कर सकते हैं कि एक लाख करोड़ मनुष्य भवों के प्राप्त होने में कितना समय लगेगा।

सम्यक्त्वविरहित साधुओं को एक हजार करोड़ वर्ष तक तप करने पर भी बोधिलाभ (रत्नत्रय की प्राप्ति) नहीं हो; इसमें तो कोई अतिशयोक्ति है ही नहीं। यदि यह भी लिख देते कि उन्हें अनन्त काल तक बोधि की प्राप्ति नहीं होगी; तो भी कोई बात नहीं थी; क्योंकि सम्यक्त्व से रहित व्यक्तियों को तो बोधिलाभ कभी होनेवाला है ही नहीं। ●

प्रवचनसार गाथा २३९

यद्यपि विगत गाथाओं में आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व की महिमा का गुणगान किया गया है और उनकी असंदिग्ध उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है; तथापि अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि **आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपतपना भी कुछ नहीं कर सकता।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।२३९।।

(हरिगीत)

देहादि में अणुमात्र मूर्च्छा रहे यदि तो नियम से।
वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं।।२३९।।

जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा वर्तती है; भले ही वह सम्पूर्ण आगम का पाठी हो; तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

''सम्पूर्ण आगम का सार हाथ में रखे आंवले के समान जानकर जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित पर्यायों के साथ सम्पूर्ण द्रव्यसमूह को जानने वाले आत्मा को जानता है; उसका श्रद्धान करता है और संयमित रखता है; उक्त पुरुष के आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पना होने पर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमल से लिप्त होने से शरीरादि के प्रति मूर्च्छा से उपरक्त रहने से निर्मल उपयोग में परिणत करके ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव नहीं करता; तो वह पुरुष मोहकलंकरूपी कीले से बंधे कर्मों से न छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता।

इसलिए आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है, कार्यकारी नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्व-प्रदीपिका टीका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

पण्डित देवीदासजी एक छन्द में उक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका के भाव को १ माधवी, ५ दोहे और ३ सोरठे ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर ९ छन्दों में विस्तार से समझाते हैं। उक्त सभी छन्द मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व होने पर भी, जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसका कल्याण नहीं हो सकता। आजतक अनेक जीवों ने आत्मज्ञान बिना ही आगम का अभ्यास किया है।[१]

आगम द्वारा छह द्रव्यों को स्वतंत्र जानकर, आगम और नवतत्त्वों की श्रद्धा करता है; पाँच इन्द्रियों की विषयाभिलाषा रोककर, पाँच महाव्रत, बारह व्रतरूप शुभभाव करता है; मुनि होकर २८ मूलगुण, संयमादि का पालन करता है; इतना सब कुछ होने पर भी आत्मज्ञान नहीं होने से सिद्धि को प्राप्त नहीं करता है।[२]

संयमपालन किया, नवतत्त्वों की श्रद्धा की, आगम ज्ञान किया; फिर भी सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हम उसे ज्ञानी नहीं कहते; क्योंकि वह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की रुचि नहीं करता। आगमज्ञान, नवतत्त्वों की श्रद्धा और इन्द्रियदमन से सम्यक्त्व नहीं होता है, फिर भी वह इससे ही सम्यक्त्व मानता है।[३]

इस रीति से जिस जीव को सूक्ष्म मिथ्यात्व रह गया है, उसके भावकर्म और निमित्तरूप द्रव्यकर्मों का नाश नहीं होता; अतः धर्म भी नहीं होता।

इसप्रकार आत्मा चिदानन्द स्वरूप है। इसके ज्ञान बिना, शास्त्रज्ञान,

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२३८
२. वही, पृष्ठ-२३९
३. वही, पृष्ठ २४२

तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना जरा भी लाभदायक नहीं है। एक साथ, एक समय में तीनों के होने पर भी आत्मा को लाभ नहीं होता। जबतक परसन्मुख दृष्टि है, तबतक आत्मलाभ नहीं हो सकता।[१]''

इस गाथा में ऐसे अनेक बिन्दु हैं; जो स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं। जैसे ह्न **सव्वागमधरो वि** ह्न सर्वागम का धारक अर्थात् सम्पूर्ण आगम को जाननेवाला भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। यह कैसे हो सकता है; क्योंकि सर्वागम का धारी तो श्रुतकेवली होता है और वह तो आत्मज्ञानहीन हो ही नहीं सकता है ?

यह बात आचार्य अमृतचन्द्र के चित्त में भी उपस्थित हुई होगी, यही कारण है कि वे उक्त पद का अर्थ करते समय लिखते हैं कि **सर्वागम का सार जाननेवाला भी....।**

यहाँ सर्व आगमधर का अर्थ द्वादशांग का पाठी न लेकर ११ अंग और ९ पूर्व का पाठी लेना होगा; क्योंकि मिथ्यादृष्टि को अधिक से अधिक ११ अंग और ९ पूर्वों का ज्ञान ही हो सकता है। इसीप्रकार इस गाथा में कथित **मूर्च्छा** का आशय **देहादि में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व से ही है।**

सबकुछ मिलाकर निष्कर्ष यह है कि ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी एवं उक्त आगम में प्रतिपादित तत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा से सम्पन्न तथा महाव्रतादि का धारी व्यक्ति भी यदि देहादि में एकत्व-ममत्व धारण करता हुआ त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की अनुभूतिपूर्वक उसमें अपनापन नहीं रखता तो वह मोक्षमार्गी नहीं है, मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। अत: यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति के श्रद्धान, ज्ञान और संयम निरर्थक ही है।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा ऐसी आती है; जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ २४२

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं।
सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण।।३५।।

(हरिगीत)

अनारंभी त्याग विषयविरक्त और कषाय क्षय।
ही तपोधन संतों का सम्पूर्णतः संयम कहा।।३५।।

प्रव्रज्या अर्थात् तपश्चरण अवस्था में त्याग, अनारंभ, विषयों से विरक्तता और कषायों के क्षय को विशेष रूप से संयम कहा गया है।

इसकी टीका में आचार्य जयसेन त्याग, अनारंभ आदि सभी विशेषणों के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सब ओर से अपने शुद्धात्मा को ग्रहण कर बहिरंग-अंतरंग परिग्रह की निवृत्ति त्याग है, अपने निष्क्रिय शुद्ध द्रव्य में ठहर कर, मन, वचन और काय संबंधी व्यापार से निवृत्ति अनारंभ है, विषयों से रहित अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख में तृप्त होकर पंचेन्द्रिय संबंधी सुख की इच्छा का त्याग विषय-विराग है; कषायरहित शुद्धात्मा की भावना के बल से क्रोधादि कषायों का त्याग कषाय क्षय है।

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि त्याग, अनारंभ, विषयों से विरक्ति और कषायों का क्षय ही संयम है। ●

पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है; शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

ह्न सारसमयसार, पृष्ठ-४-५

प्रवचनसार गाथा २४०

'आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व भी कार्यकारी नहीं है' ह्न विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में **आत्मज्ञानसहित आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपदपने की सार्थकता सिद्ध करते हैं।** गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।।२४०।।

(हरिगीत)

तीन गुप्ति पाँच समिति सहित पंचेद्रियजयी।
ज्ञानदर्शनमय श्रमण ही जितकषायी संयमी।।२४०।।

तीन गुप्ति और पाँच समितियों से सहित, पाँच इन्द्रियों का संवरवाला, कषायों को जीतनेवाला और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण श्रमण संयत कहा गया है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

''जो अनेकान्त निकेतन आगम के बल से, समस्त पदार्थों के ज्ञेयाकारों से मिलित विशद एक ज्ञानाकार आत्मा का श्रद्धान और अनुभव (ज्ञान) करता हुआ आत्मा में ही नित्य निश्चलवृत्ति को चाहता हुआ संयम के साधनरूप शरीर को समितियों से अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा और पंचेन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा मन-वचन-काय के व्यापार से विराम को प्राप्त, परद्रव्य में भ्रमण में निमित्तभूत कषायसमूह और आत्मा के परस्पर मिलन के कारण अन्यत्र एकरूप हो जाने पर भी स्वभाव भेद के कारण उसे परद्रव्य में निश्चित करके आत्मा में ही कुशल मल्ल की भांति मर्दन करके अक्रम से उसे मार डालता है; वह पुरुष सकल परद्रव्य से शून्य होने पर भी, विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमात्र स्वभावरूप आत्मतत्त्व में नित्य-

निश्चल परिणति उत्पन्न होने से साक्षात् संयत ही है। ऐसे आत्मा को आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व तथा आत्मज्ञान का युगपतपना सिद्ध होता है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में समिति, गुप्ति, पंचेन्द्रियविजय, जितकषाय को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझाया है; जो मूलत: पठनीय है।

पण्डित देवीदासजी और कविवर वृन्दावनदासजी एक-एक छन्द में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं; जो लगभग एक जैसे ही हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी का छन्द इसप्रकार है ह्न

(सवैया मात्रिका)

जाके पंचसमिति सित सोभत, तीन गुपत उर लसत उदार।
पंचिंद्रिनि को जो संवर करि, जीतै सकल कषाय विकार।।
सम्यक्दर्श ज्ञान सम्पूरन, जाके हिये वृन्द दुतिधार।
शुद्ध संजमी ताहि कहैं जिन, सो मुनि वरै विमल शिवनार।।५०।।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि जिनके हृदय में शुभ्र पाँच समितियाँ और उदार तीन गुप्तियाँ सुशोभित हो रही हैं, जिन्होंने पंचेन्द्रिय को जीतकर कर्मों का संवर किया है और सम्पूर्ण कषायों के विकारों को जीत लिया है; जिनके हृदय में पूर्ण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की द्युति की धारा बह रही है; उन मुनिराजों को जिनराज शुद्ध संयमी कहते हैं और वे मुनिराज परमपवित्र मुक्तिरूपी कन्या का वरण करते हैं।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसप्रकार जिस पुरुष को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तो था ही, पश्चात् स्वभाव में दृढ़तापूर्वक स्थिरता हुई है। पाँच समिति की अंकुशित प्रवृत्ति से प्रवर्तन है। पाँच इन्द्रियों के निरोध से मन-वचन-काया का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है। आत्मा और कषायों का भेद जानकर कषायों को

पकड़कर मार डाला है अर्थात् विशेष पुरुषार्थपूर्वक वह अंतर रमणता कर रहा हैं। वहाँ उस पुरुष को विशुद्ध दर्शन ज्ञान मात्र स्वभावरूप रहते हुए स्वद्रव्य में वीतरागी दशा उत्पन्न हुई है; अतः वे साक्षात् संयत (मुनि) ही हैं और उन्हें आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व के युगपत्पना तथा आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आत्म-रमणतारूप निश्चयचारित्रपूर्वक पाँच समितियों के पालक, तीन गुप्तियों के धारक, पंचेन्द्रियों के निरोधक और जितकषायी (कषायों को जीतनेवाले) संत ही संयत हैं और ऐसे संतों के ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२५०

देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतनतत्त्व है। यद्यपि उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगे उठती रहती हैं; तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परम पदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होनेवाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम पदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया, वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा। 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती है और उत्पन्न होती भी है। अत: हे मृगराज ! तुझे इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-४७**

प्रवचनसार गाथा २४१

विगत गाथा में आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम की एकतारूप मुक्तिमार्ग का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि **उक्त मार्ग में चलनेवाले संत कैसे होते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।२४१।।

(हरिगीत)

कांच-कंचन, बन्धु-अरि, सुख-दुःख; प्रशंसा-निन्द में।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में।।२४१।।

जिन्हें शत्रु और बन्धुवर्ग, सुख और दु:ख, प्रशंसा और निन्दा, सोना और मिट्टी का ढेला तथा जीवन और मरण समान हैं, इन सभी में जिनका समताभाव है; वे श्रमण हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''संयम, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्र धर्म है; धर्म साम्य है और मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम ही साम्य है; इसलिए साम्य संयत का लक्षण है। शत्रु व बन्धुवर्ग में, सुख व दुख में, प्रशंसा व निन्दा में, मिट्टी के ढेले व सोने में और जीवन व मरण के संदर्भ में शत्रु पर है व बन्धुवर्ग स्व हैं, सुख आह्लाद है व दुख परिताप है, प्रशंसा उत्कर्षण (उन्नति) है व निन्दा अपकर्षण (अवनति) है, मिट्टी का ढेला मेरे लिए अकिंचित्कर है व सोना उपकारक है, जीवन स्थायित्व है व मरण विनाशक है ह्न इसप्रकार के मोह के अभाव के कारण जिसे सर्वत्र ही राग-द्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता और जो सतत् विशुद्ध ज्ञानदर्शन-स्वभावी आत्मा का अनुभव करता है ह्न इसप्रकार शत्रु-बन्धु, सुख-दु:ख, प्रशंसा-निन्दा,

मिट्टी-सोना और जीवन-मरण को निर्विशेषतया ही ज्ञेयरूप जानकर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुष को सर्वत: साम्य है। यह संयत का लक्षण है।

ऐसे संयत पुरुष को आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपतपना तथा आत्मज्ञान का युगपतपना सिद्ध है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते हैं।

पण्डित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया और कविवर वृन्दावनदासजी १ छप्पय में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हैं। दोनों का भाव लगभग समान ही है।

कविवर वृन्दावनदासजी का छप्पय इसप्रकार है ह्न

(छप्पय)

जो जाने समतुल्य, शत्रु अरु बंधुवर्ग निजु।
सुख-दुख को सम जानि, गहै समता सुभाव हि जु।।
थुति निंदा पुनि लोह कनक, दोनों सम जानै।
जीवन मरन समान मानि, आकुलदल भानै।।
सोई मुनि वृन्द प्रधान है, समतालच्छन को धरै।
निज साम्यभाव में होय थिर, शुद्ध सिद्ध शिव तिय वरै।।

जो शत्रु और अपने बन्धुवर्ग को समान जानता है, सुख-दुख को समान जानता है, स्तुति-निन्दा और लोहे व सोने को समान जानता है तथा जीवन-मरण को समान मानता है; वह आकुलता की सेना को जीतकर, समता लक्षण को धारण करता है। मुनियों में प्रधान वह मुनिराज निजसाम्यभाव में स्थिर होकर शुद्ध, सिद्ध मुक्तिरूपी स्त्री का वरण करते हैं।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वयं का आत्मा ज्ञानस्वभावी है। दया-दानादि विकार मेरा स्वरूप नहीं है। मैं विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। शत्रु अथवा मित्र तो ज्ञाता के ज्ञेय हैं।

ज्ञातास्वभाव के शत्रु या मित्र कोई नहीं हो सकते। पर्याय में उत्पन्न विकार शत्रु है और विकार रहित आत्मस्वभाव हमारा मित्र है।[१]

वास्तव में आत्मा स्वयं के ज्ञान अलावा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता ह्न ऐसे भानपूर्वक अंतर में रमणता बढ़े वह वास्तव में चारित्र है, चारित्र ही धर्म है, धर्म ही समता है और समता ही निर्दोष वीतरागी परिणाम है।

धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से समता है; किन्तु यहाँ मुनिराज को विशेष लीनतापूर्वक वीतरागी दशा प्रगट है; अत: उन्हें ही सच्ची समता होती है। मुनिराज का लक्षण समता ही है।[२]''

मुनिराजों के समताभाव का निरूपण करते हुए पंडित दौलतरामजी छहढाला की छठवीं ढाल में जो पंक्तियाँ लिखते हैं; वे ऐसी लगती हैं कि मानो उन्होंने इस गाथा का पद्यानुवाद ही कर दिया है।

वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं ह्न

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन, में सदा समता धरन।।६।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानसहित चारित्र धारण करके मुनिराज शत्रु और बन्धु वर्ग में, लौकिक सुख-दु:ख में, प्रशंसा-निन्दा में, सोना और मिट्टी में तथा जीवन और मरण में समान भाव रखते हैं, समता भाव रखते हैं। न तो शत्रुओं से द्वेष करते हैं और न भाई-बहिनों से राग ही रखते हैं; न लौकिक अनुकूलता में अपने को सुखी अनुभव करते हैं और न प्रतिकूलता में दुख ही मानते हैं; न प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं और न निन्दा सुनकर खेद-खिन्न होते हैं। इसीप्रकार सोना और मिट्टी में भी उन्हें कोई अन्तर भासित नहीं होता। अधिक क्या कहें, उन्हें तो जीवन-मरण में भी सर्वप्रकार समभाव रहता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२५२ २. वही, पृष्ठ-२५६

प्रवचनसार गाथा २४२

विगत गाथा में सच्चे संतों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **एकाग्रता लक्षणवाला श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग आत्मज्ञान सहित आगमज्ञान, तत्त्वश्रद्धान और संयतपने की एकरूपता में ही है।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं।।२४२।।

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन-चरण में युगपत सदा आरूढ़ हो।
एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं।।२४२।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह्न इन तीनों में जो एक साथ आरूढ है, एकाग्रता को प्राप्त है; उसके परिपूर्ण श्रामण्य है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''ज्ञेय और ज्ञानतत्त्व की यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन पर्याय, अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान पर्याय और ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से निवृत्ति से रचित परिणतिरूप चारित्र पर्याय ह्न इन तीनों पर्यायों और आत्मा की भाव्य-भावकता द्वारा उत्पन्न अतिगाढ इतरेतर मिलन के बल से इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगीभाव से परिणत आत्मा के आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है; वह संयतत्व ही एकाग्रता लक्षण वाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ह्न ऐसा मोक्षमार्ग है ह्न ऐसा जानना चाहिए।

उस श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग के भेदात्मक होने से 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' ह्न इसप्रकार पर्याय प्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है और उस मोक्षमार्ग के अभेदात्मक होने से 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' ह्न इसप्रकार द्रव्यप्रधान निश्चयनय से उसका प्रज्ञापन है तथा समस्त

पदार्थ भेदाभेदात्मक होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और एकाग्रता ह्न दोनों मोक्षमार्ग हैं ह्न इसप्रकार प्रमाण से उसका प्रज्ञापन है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी तो एक छन्द में ही निपटा देते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी इसके भाव को स्पष्ट करने के लिए १ मत्तगयन्द सवैया और १४ दोहे ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर १५ छन्द लिखते हैं; जो सभी मूलत: पठनीय हैं।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष आदि समस्त पदार्थ जानने योग्य है ह्न ऐसी ज्ञाता और ज्ञेय की प्रतीति होना वह सम्यग्दर्शन है। ज्ञेय और ज्ञाता की प्रतीतिपूर्वक अनुभूति सम्यग्ज्ञान है तथा विभाव से निवृत्ति और अंतर में रमणता सम्यक् चारित्र है। **सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय तथा आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं, दोनों ही परस्पर गाढ़ मिलनरूप हैं। यही आत्मनिष्ठपना है। आत्मा के सन्मुख तत्परता ही संयतपना है।**[१]''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता सच्चा मुनिधर्म है, मुनिपना है। श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय, ज्ञान और ज्ञेयतत्त्व की यथार्थ प्रतीतिरूप है; ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञान पर्याय, यथार्थ अनुभूतिरूप है और चारित्र गुण की सम्यक्चारित्ररूप पर्याय, क्रियान्तर से निवृत्ति पूर्वक होनेवाली परिणतिरूप है। इन तीनों की एकता ही मुक्तिमार्ग है।

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२७१

इस गाथा के बाद की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य य:।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिममलं लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चिते:।।१६।।

(मनहरण कवित्त)

इसप्रकार जो प्रतिपादन के अनुसार।
एक होकर भी अनेक रूप होता है।।
निश्चयनय से तो मात्र एकाग्रता ही।
पर व्यवहार से तीनरूप होता है।।
ऐसे मोक्षमार्ग के अचलालम्बन से।
ज्ञाता-दृष्टाभाव को निज में ही बाँध ले।।
उल्लसित चेतना का अतुल विलास लख।
आत्मीक सुख प्राप्त करे अल्पकाल में।।१६।।

इसप्रकार प्रतिपादक के अभिप्रायानुसार एक होने पर भी अनेक होता हुआ एक लक्षणपने को तथा त्रिलक्षणपने को प्राप्त मुक्तिमार्ग को, ज्ञाता-दृष्टा आत्मा में लीन होकर यह लोक अचलरूप से अवलम्बन करे; जिससे यह लोक उल्लसित चेतना के अतुल विकास को अल्पकाल में प्राप्त कर ले।

इस कलश में यही कहा गया है कि वक्ता के अभिप्रायानुसार एक होकर भी अनेक होता हुआ यह मुक्ति का मार्ग एक और त्रिलक्षणपने को प्राप्त होता है।

आचार्य कहते हैं कि हे जगत के जीवो ! एक मात्र इसका ही अचल रूप से अवलम्बन करो; क्योंकि इससे ही जीव अल्पकाल में पूर्णानन्द को प्राप्त होते हैं। ●

प्रवचनसार गाथा २४३–२४४

आगामी गाथायें इस मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार की अन्तिम गाथाएँ हैं। अत: इन गाथाओं में पूरे अधिकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए **एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है और अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है** ह्न यह स्पष्ट करते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।२४३।।
अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि।।२४४।।

(हरिगीत)

अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेषमय।
जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब॥२४३॥
मोहित न हों जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें।
नियम से वे श्रमण ही क्षय करें विध-विध कर्म सब॥२४४॥

यदि श्रमण अन्यद्रव्य का आश्रयपूर्वक अज्ञानी होता हुआ मोह-राग-द्वेष करता है तो वह विविध कर्मों से बंधता है और यदि पदार्थों में मोह-राग-द्वेष नहीं करता है तो वह ज्ञानी श्रमण नियम से विविध कर्मों को खपाता है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जो मुनि ज्ञानात्मक आत्मा को मुख्यरूप से नहीं भाता; वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यों का आश्रय अवश्य करता है। परद्रव्यों का आश्रय करनेवाला वह मुनि ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट अज्ञानी होता हुआ मोह-राग-द्वेष करता है और बंध को प्राप्त होता है; मुक्त नहीं होता। इसलिए अनेकाग्रता को मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता।

और जो मुनिराज ज्ञानात्मक आत्मा को मुख्यरूप से भाते हैं; वे मुनिराज ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यों का आश्रय नहीं करते। परद्रव्यों का आश्रय नहीं करनेवाले वे मुनिराज ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट न होकर ज्ञानी होते हुए, मोह-राग-द्वेष नहीं करते और वे मुक्त ही होते हैं; बंध को प्राप्त नहीं होते। इसलिए एकाग्रता को ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है।''

तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए जो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''जो मुनिराज निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा निज में एकाग्र होकर निजात्मा को नहीं जानते हैं; उनका चित्त बाह्यविषयों में जाता है, अपने ज्ञानानन्द स्वभाव से च्युत होता है; इसलिए वे मोह-राग-द्वेषरूप परिणमते हैं और अनेकप्रकार के कर्मों से बँधते हैं। इसकारण मुमुक्षुओं को एकाग्ररूप से अपने स्वरूप की भावना करना चाहिए।

और जो मुनिराज देखे हुए, सुने हुए, भोगे हुए भोगों की इच्छारूप अपध्यान के त्यागपूर्वक अपने स्वरूप की भावना भाते हैं; उनका मन बाह्यविषयों में नहीं जाता। बाह्य पदार्थों की चिन्ता का अभाव होने से वे निर्विकार चैतन्यचमत्कार से च्युत नहीं होते। रागादि का अभाव होने से उनके विविधप्रकार के विविध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को निश्चल मन से अपने आत्मा की भावना करना चाहिए।

इसप्रकार वीतरागचारित्रसंबंधी विशेष कथन सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि सयोग केवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा। इसकारण अभी हमारे लिए तो सम्यक्त्व भावना और भेदज्ञान की भावना ही पर्याप्त है, चारित्र तो बाद में होगा।

उनकी शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा गया है; इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से कहा है।

सम्पूर्ण रागादि विकल्पजालरहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शन –ज्ञानपूर्वक छद्मस्थ का वीतरागचारित्र ही कार्यकारी है; क्योंकि उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है; इसलिए उसमें ही प्रयत्न करना चाहिए।''

प्रश्न ह्न यहाँ कहा गया है कि ध्यान और चारित्र केवली भगवान के उपचार से कहे गये हैं। यह भी कहा गया है कि छद्मस्थों का वीतराग चारित्र ही कार्यकारी है। उक्त सन्दर्भ में प्रश्न यह है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये तो सयोग केवली और अयोग केवलियों के ही होते हैं तथा उनके पूर्ण वीतरागता भी है ही ह्न ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि सयोग केवली और अयोग केवलियों के ध्यान व चारित्र कहना उपचरित कथन है। यह भी कैसे जाना जा सकता है कि सयोग केवलियों के एकदेश चारित्र है; क्योंकि परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा? शास्त्रों में यह भी तो लिखा है कि पंचम गुणस्थान वालों के एकदेश चारित्र अर्थात् एकदेशव्रत और मुनिराजों के सकलचारित्र अर्थात् महाव्रत होते हैं।

उत्तर ह्न अरे भाई, यह सब सापेक्ष कथन हैं। जिनागम में विविध प्रकरणों में विविध अपेक्षाओं से विविधप्रकार के कथन किये जाते हैं। अत: जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे सावधानी से समझना चाहिए।

यहाँ अपेक्षा यह है कि हम छद्मस्थों को तो वही ध्यान, ध्यान है और वही चारित्र चारित्र है; जो हमें अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति कराये।

पण्डित देवीदासजी दोनों गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में प्रस्तुत करते हैं और वृन्दावनदासजी २४३वीं गाथा का भाव एक छन्द में और २४४वीं गाथा का भाव चार छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो सभी मूलत: पठनीय हैं।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो मुनि अपने चैतन्य स्वभाव का आश्रय छोड़कर शरीर, मन, वाणी से लाभ मानते हैं। पुस्तक से ज्ञान होगा, यात्रा करने से धर्म होगा ह्न

ऐसा मानकर निमित्त तथा पुण्य-पाप के भावों का आश्रय करते हैं, वे मोही हैं। परद्रव्य तथा पुण्य-पाप से निवृत्त होने पर धर्म होता है, ऐसा न मानकर पर में लाभ-नुकसान माने यह मिथ्या है।

यहाँ मुख्यता से मुनिराज और गौणरूप से श्रावक की बात है।[१]

पर को समझाऊँ अथवा पर के कारण समझ में आया ह्न ऐसा मानने वाला 'मैं स्वयं ज्ञानस्वभावी तत्त्व हूँ', इस बात को भूलकर पर में ही अटकता है और नवीन कर्मों का बँध करता है, इसप्रकार पर तथा विकल्प इत्यादि में एकाग्र होने से उसे मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है।[२]

ज्ञानी प्रतिसमय अपने ज्ञायकभाव को ऊर्ध्व रखता है। पर को तथा विकार को अग्र नहीं करता तथा ज्ञान में जो-जो ज्ञेय जानने में आते हैं, उन ज्ञेयों का आश्रय भी नहीं करता है; वह तो मात्र ज्ञान स्वभाव का आश्रय करता है।[३]

बाह्य पदार्थ अनुकूल व प्रतिकूल नहीं है; किन्तु स्वयं का रागरहित ज्ञानस्वभाव अनुकूल है और विकार प्रतिकूल है। सच्चे श्रद्धा-ज्ञान के कारण धर्मी जीव को एकत्वबुद्धि का राग-द्वेष नहीं होता और जो मुनि विशेष स्थिरता करते हैं, वे मोह-राग-द्वेष रूप नहीं परिणमते तथा कर्मों से भी नहीं बँधते, अपितु मुक्त ही होते हैं।[४]''

इसप्रकार इन गाथाओं में दो टूक शब्दों में यह कहा गया है कि ज्ञेयभूत परद्रव्यों का आश्रय करनेवाले, ज्ञानात्मक आत्मा से भ्रष्ट अज्ञानी जीव कर्मों से बंधते हैं और ज्ञेयभूत परद्रव्य का आश्रय नहीं करनेवाले, ज्ञानात्मक आत्मा का आश्रय कर कर्मों से मुक्त होते हैं; इसलिए अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है और एकाग्रता मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार चरणानुयोगसूचकचूलिका नामक महाधिकार में समागत मोक्षमार्गप्रज्ञापनाधिकार समाप्त होता है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२७६-२७७
२. वही, पृष्ठ-२७८
३. वही, पृष्ठ-२८१
४. वही, पृष्ठ २८३

शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा २४५ से गाथा २७० तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

शुद्धोपयोगी श्रमण के जो होते शुभभाव।
वे ही शुभ उपयोग हैं भाषी श्री जिनराज॥

चरणानुयोगसूचकचूलिका में समागत आचरणप्रज्ञापन, मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन अधिकार के उपरान्त अब शुभोपयोगप्रज्ञापन अधिकार आरंभ करते हैं। इस अधिकार की पहली और प्रवचनसार की २४५वीं इस गाथा में **गौणरूप से शुभोपयोगियों को भी श्रमण बताया जा रहा है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥२४५॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण।
शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब॥२४५॥

शास्त्रों में कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी श्रमण हैं। उनमें शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं और शेष अर्थात् शुभोपयोगी सास्रव हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ यह कहा जा रहा है कि श्रामण्य परिणति की प्रतिज्ञा करके भी जो कषाय कण के जीवित होने से, समस्त परद्रव्यों से निवृत्तिरूप सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका में आरोहण करने में असमर्थ हैं; वे शुभोपयोगी जीव ह्न जो शुद्धोपयोग की

भूमिका के अत्यन्त नजदीक निवास कर रहे हैं, कषाय ने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है और अत्यन्त आतुर मनवाले हैं; वे श्रमण, श्रमण हैं या नहीं?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ह्न

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा।
पर प्राप्त करते स्वर्ग सुख ही शुभोपयोगी आतमा॥११॥

उक्त प्रतिपादन ग्यारहवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं किया है; इसलिए शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय (एकसाथ रह सकने रूप संबंध) है। अत: शुभोपयोगी भी श्रमण हैं; क्योंकि उनके (तीन कषाय के अभावरूप) धर्म का सद्भाव है, किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के समान नहीं हैं; क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्रव ही हैं और शुभोपयोगी के कषायकण अविनष्ट होने से सास्रव ही हैं। यही कारण है कि इन्हें शुद्धोपयोगियों के साथ नहीं लिया जाता; पीछे से गौणरूप में ही लिया जाता है।''

ध्यान रहे यहाँ सातवें गुणस्थान और ऊपर के ध्यानारूढ़ मुनिराजों को शुद्धोपयोगी और **जिनके मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो प्रगट हो गई है; पर उपयोग देवादि की भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय आदि शुभभावों में लगा रहता है; उन्हें शुभोपयोगी मुनिराज कहा गया है। ध्यान रहे यहाँ मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराजों को शुभोपयोगी नहीं कहा जा रहा है।**

उक्त संदर्भ में इसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन का निम्नांकित कथन दृष्टव्य हैह्न

''निज शुद्धात्मा के बल से सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संबंधी संकल्प-विकल्प रहित होने से शुद्धोपयोगी मुनिराज निरास्रव ही हैं; शेष शुभोपयोगी मुनिराज मिथ्यात्व और विषय-कषायरूप अशुभ आस्रव का निरोध होने पर भी पुण्यास्रव सहित हैं ह्न ऐसा भाव है।''

पंडित देवीदासजी इस गाथा के भाव को एक छन्द में मात्र दुहरा देते

हैं, जबकि कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए ७ दोहे, २ द्रुमिला और १ माधवी ह्न इसप्रकार कुल १० छन्दों का उपयोग करते हैं। ये सभी छन्द मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि समयसार में सम्यग्दृष्टि जीव को अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी को निरास्रवी कहा है और यहाँ छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को आस्रव सहित कहा। यह कैसे?

समाधान :ह्न सम्यग्दृष्टि दृष्टि की अपेक्षा निरास्रवी है और शुभोपयोगी मुनिराज अस्थिरता की अपेक्षा से आस्रवी है।

अज्ञानी जीव अनादिकाल से शरीर की क्रिया और पुण्य में धर्म मानता आया था, अब शरीर मेरा नहीं, पुण्य की क्रिया मेरी नहीं, मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ह्न ऐसी श्रद्धा है; अत: वह विकार का स्वामी नहीं होता। अनंत संसार के कारणस्वरूप मिथ्यात्व, राग-द्वेष का आस्रव नहीं होता है; अतः दृष्टि अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को समयसार में निरास्रवी कहा है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। मुनिराज को आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान है। तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने पर भी महाव्रतादि के विकल्प उठते हैं; वह मलिनता बंध का कारण है; अत: यहाँ चारित्र की अपेक्षा से उन्हें आस्रवी कहा है। इसप्रकार अपेक्षा समझना चाहिए।[१]''

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह बात कही गई है कि शुद्धोपयोग में लीन मुनिराज ही निरास्रवी हैं, छठवें गुणस्थान के शुभभावों में स्थित मुनिराज सास्रवी हैं। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि **छठवें गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों की बंधव्युच्छुत्ति नहीं हुई है; उन प्रकृतियों का ही आस्रव-बंध उन्हें होता है।** ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-२८६-२८७

प्रवचनसार गाथा २४६-२४७

विगत गाथा में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ह्न दो प्रकार के श्रमणों की चर्चा करने के उपरान्त **अब इन २४६ एवं २४७वीं गाथाओं में शुभोपयोगी मुनियों का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ बतलाते हैं।**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ।।२४६।।
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ।।२४७।।

(हरिगीत)

वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में।
बस यही चर्या श्रमणजन की कही शुभ उपयोग है।।२४६।।
श्रमणजन के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन।
विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं है जिनमार्ग में।।२४७।।

श्रमणों में पायी जानेवाली अरहंतादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य शुभयुक्त चर्या है।

श्रमणों के प्रति वंदन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान (खड़े होना) और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति तथा उनका श्रम दूर करना राग चर्या में निन्दित नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''सकल संग के संन्यास रूप श्रामण्य होने पर भी कषायांश के आवेश वश से केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने में स्वयं अशक्त मुनिराज के अर्थात् केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहनेवाले अर्हंतादिक तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवों के

प्रति भक्ति तथा वात्सल्य से चंचल चित्त श्रमण के, मात्र उतने राग से प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होने के कारण शुभोपयोगी चारित्र है। इससे ऐसा कहा गया है कि शुद्धात्मा का अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुराग युक्त चारित्र होता है; इसलिए जिन्होंने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है ह्न ऐसे श्रमणों के प्रति जो वंदन-नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनरूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणति की रक्षा की निमित्तभूत ऐसी जो श्रम दूर करने की वैयावृत्तिरूप प्रवृत्ति है; वह शुभोपयोगियों के लिए दूषित नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को प्रस्तुत करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं ह्न

''इससे यह कहा गया है कि स्वयं शुद्धोपयोगरूप लक्षण परम सामायिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसीप्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति जो भक्तिभाव है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग में लिप्त मुनिराजों को रत्नत्रय की आराधना करनेवाले शेष पुरुषों के विषय में इसप्रकार की शुभोपयोगरूप प्रवृत्तियाँ योग्य ही हैं।''

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव ३ छन्दों में और कविवर वृन्दावनदास जी इन गाथाओं के भाव को १ सवैया, १ छप्पय, १ मनहरण, ३ सोरठा और ४ दोहे - इसप्रकार कुल मिलाकर १० छन्दों में प्रस्तुत करते हैं, जो सभी मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज आत्मस्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते हों तो उन्हें शुभभाव होते हैं, उसकी मर्यादा क्या और कितनी है? अब, यह बताते हैं।[१]

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ २९५

यदि मुनिराज को शुभभाव हो तो अर्हन्त, सिद्ध आदि के प्रति भक्ति का राग होता है। कुदेवादि के प्रति भक्ति का राग नहीं होता। **राग करना चाहिए अथवा इसप्रकार का राग करने योग्य है ह्न ऐसी उनकी मान्यता नहीं है। उन्हें तो राग का सर्वथा निषेध ही वर्तता है।** राग को छोड़कर वे स्वरूप में लीन रहना चाहते हैं; अतः मुनिराज को अल्पराग वर्तता है, इसप्रकार किनके प्रति राग वर्तता है, उस भूमिका का यहाँ ज्ञान कराया है।[१]

जो जीव वीतरागी शास्त्रों में रत रहते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव में ही रहने का प्रतिपादन करते हैं, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी मुनि को वात्सल्य भाव होता है।[२]

अरहन्तादि के प्रति भक्ति तथा आगम परायण जीवों के प्रति वात्सल्य भाव, वह शुभोपयोगी मुनि का लक्षण है।[३] शुभोपयोगी मुनि को शुभभाव यदि हो तो धर्मात्मा के प्रति होता है। यह निंदित या निषेधरूप नहीं है। **दृष्टि में तो निषेध ही है, परन्तु चरणानुयोग में राग की भूमिकानुसार किस प्रकार का राग आता है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।**[४]''

इन गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी और मिथ्यात्व का अभाव कर देनेवाले छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज भावना तो निरन्तर यही रखते हैं कि सदा शुद्धोपयोग में रहें; पर पर्यायगत कमजोरी के कारण जब यह संभव नहीं रहता; तब वे अरहंतादि की भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभाव से प्रवर्तते हैं।

यदि वे शुभोपयोगी मुनिराज सच्चे सन्तों को वंदन, नमस्कार, उनकी विनय और वैयावृत्ति करते हैं तो वे निंदनीय नहीं हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ २९५
२. वही, पृष्ठ २९६
३. वही, पृष्ठ २९७
४. वही, पृष्ठ ३०१

प्रवचनसार गाथा २४८-२४९

विगत गाथाओं में शुभोपयोगी श्रमणों का स्वरूप और प्रवृत्तियाँ बताने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **ऐसी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं**। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।२४८।।
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।।२४९।।

(हरिगीत)

उपदेश दर्शन-ज्ञान पूजन शिष्यजन का परिग्रहण।
और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण।।२४८।।
तनविराधन रहित कोई श्रमण पर उपकार में।
नित लगा हो तो जानना है राग की ही मुख्यता।।२४९।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश सरागियों की चर्या है।

जो श्रमण काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का नित्य उपकार करता रहता है, वह श्रमण भी राग की प्रधानता वाला ही है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''अनुग्रह करने की भावनापूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपदेश की प्रवृत्ति, शिष्य ग्रहण और उनके पोषण की प्रवृत्ति तथा जिनेन्द्र पूजन के उपदेश की प्रवृत्ति शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियों के नहीं।

संयम की प्रतिज्ञा होने से छह काय के जीवों की विराधना से रहित, शुद्धात्मपरिणति के रक्षण में निमित्तभूत, चार प्रकार के श्रमणसंघ का उपकार करने की प्रवृत्ति भी राग की प्रधानता के कारण शुभोपयोगियों के

ही होती है; शुद्धोपयोगियों के कदापि नहीं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव प्रस्तुत करते हुए एक प्रश्न उपस्थित करते हैं कि ''शुभोपयोगियों के भी किसी समय शुद्धोपयोग रूप भावना दिखाई देती है और शुद्धोपयोगियों के भी किसी समय शुभोपयोगरूप भावना देखी जाती है; श्रावकों के भी सामायिक आदि के समय शुद्धभावना देखी जाती है। ऐसी स्थिति में शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों में भेद करना कैसे संभव है ?''

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि ह्न

''आपका कहना ठीक ही है; परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोगरूप आचरण करते हैं, यद्यपि वे किसी समय शुद्धोपयोगरूप भावना करते हैं; तथापि वे शुभोपयोगी ही कहलाते हैं तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, वे भी किसी समय शुभोपयोगरूप वर्तते हैं; तो भी वे शुद्धोपयोगी ही हैं।

जिसप्रकार जिस वन में आम्र के पेड़ अधिक हों, उस वन में कुछ नीम के भी पेड़ क्यों न हों, पर उसे आम्रवन ही कहते हैं। इसीप्रकार यहाँ शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगियों के संदर्भ में भी समझना चाहिए।''

एक अपेक्षा यह भी तो हो सकती है कि अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से होनेवाली शुद्धपरिणति सम्पन्न मुनिराज शुद्धोपयोग के काल में शुद्धोपयोगी हैं और शुभोपयोग के काल में शुभोपयोगी हैं। इसप्रकार **छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत शुद्धोपयोगी भी हैं और शुभोपयोगी भी हैं। श्रेणी का आरोहण करनेवाले सभी मुनिराज शुद्धोपयोगी ही हैं।**

साधु शब्द के पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के विशिष्ट अर्थों को भी आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि ''अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि हैं, ऋद्धिप्राप्त साधु ऋषि हैं। क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी ह्न दोनों श्रेणियों में आरूढ साधु यति हैं और अन्य सभी साधु अनगार हैं।

ऋषि चार प्रकार के होते हैं ह्न राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि को प्राप्त साधु राजर्षि है, बुद्धि और औषधि ऋद्धि सहित साधु ब्रह्मर्षि हैं, आकाशगमन ऋद्धि सम्पन्न साधु देवर्षि हैं तथा केवलज्ञानी परमर्षि हैं। इन सभी के सुख-दुख आदि विषयों में समताभाव होने से सभी श्रमण हैं।''

इन गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी और कविवर वृन्दावन-दासजी साधारणरूप में एक-एक छन्दों में ही प्रस्तुत करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''मुनिराज को उपदेश देने का विकल्प आवे और उनके श्रीमुख से संसार को भेदन करनेवाला उपदेश निकले तो मुनि ने अनुग्रह किया ह्न ऐसा कहा जाता है, किन्तु जबतक पात्र जीव न मिले, तबतक वे भी उपदेशादि में प्रवृत्ति नहीं करते।[१]

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, शरीरादि पदार्थ जड़ हैं। शुभराग विकार है। किसी को समझाने का भाव उत्पन्न हुआ, वह भी शुभराग है। इस शुभराग के कारण धर्म नहीं होता। मुनिराज कहते हैं कि हे भाई ! तुम हमारा और शुभराग का लक्ष छोड़कर स्वयं के ज्ञान-दर्शनमय आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो, तुम्हें अवश्य धर्म होगा।

हमारे कारण धर्म होगा ह्न ऐसा कदापि संभव नहीं है। इसप्रकार मुनिराज सदैव निज शुद्धस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान का ही उपदेश देते हैं।[२]

शुभोपयोगी मुनिराज राग के होने पर योग्य शिष्य को दीक्षा देते हैं। उसके पोषण की प्रवृत्ति की ओर लक्ष देते हैं। अभी, शिष्य अपने स्वभाव में स्थित नहीं है। निजस्वभाव का पूर्ण पोषण करने में समर्थ नहीं है; अत: आचार्यदेव शिष्य की योग्यतानुसार वर्तनेवाले राग को जानते हैं।[३]

श्रावकों के लिये जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति का भी वे उपदेश देते हैं, आदेश नहीं देते। रागी देवी-देवता अथवा अन्य किसी प्रतिमा

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३०३-३०४
२. वही, पृष्ठ ३०४ ३. वही, पृष्ठ ३०४

की पूजा आदि का वे उपदेश नहीं देते; किन्तु वीतरागी परमात्मा, जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश अवश्य देते हैं।[१] हमारे लिए यह आहार बनाओ ह्न ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि को अनेकों बार अशुभभाव भी होते हैं, किन्तु मुनिपना होने पर अंतरलीनता अत्यन्त बढ़ गई है। बाह्य परिग्रह अर्थात् वस्त्रादि का राग छूट गया है; अत: नग्न दिगम्बर दशा वर्तती है। ऐसे साधुपद के बाद केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। अन्तर भानसहित लीनता बढने से राग घट गया है। रोग हो तो मुनिराज औषधि वगैरह ग्रहण करने का भाव नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को औषधी सेवन का भाव होता है; किन्तु मुनिराज अशुभराग की प्रवृत्ति से अत्यन्त दूर है और शुभराग में भी मर्यादा वर्तती है। प्रतिज्ञा तो निजस्वभाव में रमणता की है; अत: परिग्रहादि के अशुभभाव टल गए हैं। पाप परिणामों का त्याग है और जो शुभभाव आते हैं ह्न वे भी धर्मात्मा के प्रति आते हैं। ऐसे साधुपद से आगे बढ़कर जीव केवलज्ञान पाता है। यहाँ कोई कहे कि अभी केवलज्ञान नहीं है, फिर मुनिपने का क्या काम ?

उससे कहते हैं कि भाई ! केवलज्ञान का साधन मुनिपना है। उसकी सम्यक् श्रद्धा तो कर। सम्यक् श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा और सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना अथवा मुक्ति नहीं होगी; अत: जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा श्रद्धान-ज्ञान करना चाहिए।[२]''

उक्त गाथाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि शुद्धोपयोगी मुनिराजों के तो किसी भी प्रकार की सराग चर्या होती ही नहीं है; छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी सन्तों की भी सराग चर्या मर्यादित ही होती है। जो भी होती है, **उसमें आत्मकल्याणकारी तत्त्वोपदेश, शिष्यों का ग्रहण और वे धर्ममार्ग में लगे रहें ह्न इस भावना से परिपोषण और गृहस्थों को तत्त्व उपदेश के साथ-साथ जिनपूजनादि करने का उपदेश ही होता है।** ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३०५ २. वही, पृष्ठ ३०९-३१०

प्रवचनसार गाथा २५०

विगत गाथाओं में शुभोपयोगी साधुओं की विराधना रहित प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट कर **अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि विराधना सहित प्रवृत्ति अनगारों की नहीं, श्रावकों की ही होती है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से।।२५०।।

(हरिगीत)

जो श्रमण वैयावृत्ति में छह काय को पीड़ित करें।
वह गृही ही हैं क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है।।२५०।।

जो श्रमण वैयावृत्ति के लिए उद्यमी वर्तता हुआ छह काय के जीवों को पीड़ित करता है; वह श्रमण, श्रमण ही नहीं है, गृहस्थ है; क्योंकि छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति श्रावकों का धर्म है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''दूसरे मुनिराजों की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा के अभिप्राय से वैयावृत्ति की प्रवृत्ति करता हुआ श्रमण अपने संयम की विराधना करता है। गृहस्थ धर्म में प्रवेश करनेवाला वह श्रमण श्रामण्य से च्युत होता है। इसलिए प्रत्येक श्रमण को वही प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो किसी भी रूप में संयम की विरोधी न हो; क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।''

अत्यन्त सरल-सुबोध इस गाथा के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इसीप्रकार इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी एक छन्द में और वृन्दावनदासजी दो छन्दों में प्रस्तुत करते हैं, जो मूलत: पठनीय हैं।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दृष्टि श्रावक को आत्मभान होने पर भी वह स्वयं के लिए औषधि वगैरह लाता है, यह राग की प्रवृत्ति है; किन्तु मुनिराज को श्रावक के समान राग नहीं होता है। यदि मुनिराज को उसप्रकार का राग आवें और वे तदनुसार कार्य करें तो उनके श्रावकपना हो जाएगा। वह जीव भी भ्रान्ति के कारण मिथ्यादृष्टि कहलायेगा। विष्णुकुमार मुनि का नाम वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुआ ह्न ऐसा शास्त्रों में आता है। सात सौ मुनियों को बचाकर वे उनके रक्षण में निमित्त हुए; किन्तु स्वयं का मुनिपना छोड़कर वे निचली दशा को प्राप्त हुए । यद्यपि निजस्वरूप का भान छूटा नहीं था,किन्तु बाह्य में जो क्रिया हुई, वह मुनिपने के योग्य नहीं थी।[१]

यहाँ बताते हैं कि मुनियों को वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति इसप्रकार होना चाहिए कि जिससे संयम में विराधना नहीं हो। साथ ही वैयावृत्ति का तीव्र राग भी नहीं होना चाहिए, यह विशेष समझना।[२]''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यहाँ श्रावकों को छह काय के जीवों का विराधक बताया गया है। क्या यह उचित है ?

अरे भाई ! इसमें उचित-अनुचित की क्या बात है ? यहाँ तो यह कहा गया है कि जिन श्रावकों के द्वारा अपनी आजीविका आदि में भूमिकानुसार होनेवाले आरंभ-परिग्रह में, जिससे बचना संभव नहीं है ह्न त्रस-स्थावर जीवों की जैसी विराधना होती है; उन श्रावकों के द्वारा श्रमणों की वैयावृत्ति में भी उसप्रकार की विराधना हो तो हो; पर श्रमणों के जीवन में तो ह्न ऐसी विराधना होनी ही नहीं चाहिए। श्रावकों को त्रस-स्थावर जीवों की विराधना करना चाहिए ह्न ऐसी कोई बात यहाँ नहीं है।

भूमिकानुसार होनेवाली त्रस-स्थावर जीवों की विराधना भी यदि श्रावक स्वयं के उपचार के लिए करे तो तत्संबंधी भाव अशुभभाव हैं और सन्तों के उपचार के लिए करे तो तत्संबंधी भाव शुभभाव हैं। ध्यान रहे यहाँ त्रस-स्थावर जीवों की विराधना करने की बात नहीं है; अपितु श्रावक अवस्था में भूमिकानुसार होनेवाली हिंसा की बात है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ-३१५-३१६ २. वही, पृष्ठ-३१७

प्रवचनसार गाथा २५१

विगत गाथा में 'मुनिराजों द्वारा की जानेवाली वैयावृत्ति पूर्णत: अहिंसक होती है' ह्न यह स्पष्ट करने के उपरान्त **अब इस गाथा में शुभोपयोगी मुनिराजों द्वारा की जानेवाली प्रवृत्ति के विषय को दो भागों में विभाजित करते हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।।२५१।।

(हरिगीत)

दया से सेवा सदा जो श्रमण-श्रावकजनों की।
करे वह भी अल्पलेपी कहा है जिनमार्ग में।।२५१।।

यद्यपि अल्पलेप होता है; तथापि साकार-अनाकार जैनों का अथवा श्रावक और मुनिराजों का अनुकम्पा से निरपेक्षतया उपकार करो।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्ति करने से भी अल्पलेप होता है; तथापि अनेकान्त से मैत्री रखनेवाले जैनों के प्रति एवं शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान परिणति के कारण साकार-अनाकार चर्यावालों के प्रति, शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही उपकार करनेरूप प्रवृत्ति का निषेध नहीं है; किन्तु अत्यल्प-लेपवाली होने से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्धि हो ह्न ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उसप्रकार की प्रवृत्ति से पर की और निज की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।''

उक्त कथन में यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र **सागारणगारचरिय** पद का अर्थ साकार और अनाकार उपयोगरूप चर्चावाले करते हैं; तथापि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त पद का अर्थ सागार (श्रावक) और

अनगार (मुनिराज) करते हैं।

पण्डित देवीदासजी और कविवर वृन्दावनदासजी ने भी इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जयसेन का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी **सागारणगार** का अर्थ श्रावक और मुनिराज ही किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुभराग के कारण पुण्यबंध होता है, किन्तु वह आत्मा की शांति को रोकता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय आदि पाप-प्रकृतियों का भी बंध कराता है। इसप्रकार शुभभाव से पाप व पुण्य दोनों का बंध होता है।[१]

यद्यपि शुभरागरूप प्रवृत्ति बंध का कारण है, तथापि जिसे स्वयं के शुद्धस्वभाव का प्रेम है, उसे शुद्ध आत्मा के साधक जीवों के प्रति भी शुभराग होता है। उसका यहाँ निषेध नहीं है।[२]

सच्चे मुनिराज के शरीर में रोग हुआ हो अथवा उन्हें थकान लगी हो तो शुभोपयोगी जीव को उनकी वैयावृत्ति का विकल्प आता है; किन्तु वह विकल्प बंध का कारण है, धर्म का कारण नहीं।

शुभराग से ज्ञानावरणाादि प्रकृतियाँ बंधती हैं ह्न ऐसा मानकर शुभ को जहर माने और स्वरूपस्थिता नहीं हो सके, तब उसे सच्चे ज्ञान-श्रद्धा वाले जैनियों के प्रति वैयावृत्ति का शुभराग आता है, इस शुभराग में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। स्व-पर शुद्धात्मा की परिणति में निमित्त हो ह्न यही अपेक्षा है। इसप्रकार के शुभराग का यहाँ निषेध नहीं है।[३]

वस्तुस्वरूप के विपरीत मान्यतावाले जीवों के प्रति शुभराग का निषेध है। शुभाशुभ भाव स्वयं की हिंसा है; क्योंकि यह अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से विपरीत भाव है। चिदानन्द आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान सहित वीतरागी दशा ही अहिंसा है।[४]

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३२१
२. वही, पृष्ठ ३२२
३. वही, पृष्ठ ३४१-३४२
४. वही, पृष्ठ ३४२

मान-पूजादि की पुष्टि के लिए शुभराग का निषेध है, क्योंकि इस रीति से पर अथवा स्वयं के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि यद्यपि अनुकंपापूर्वक की गई परोपकाररूप प्रवृत्ति से अल्पलेप होता है; तथापि यदि वह अनुकंपा शुभोपयोगी सन्तों द्वारा शुद्धात्मा की उपलब्धि की भावना से, शुद्धात्मा के साधकों की की जाती है तो उसका निषेध नहीं है।

परन्तु, यद्यपि उक्त प्रवृत्ति से अल्पलेप ही होता है; तथापि यदि वह शुद्धात्मा के साधकों से भिन्न अन्य लोगों की, शुद्धात्मा की साधना से अन्य अपेक्षा से की जाती है तो शुभोपयोगी सन्तों के लिए उसका निषेध ही है; क्योंकि इससे अपनी व अन्य श्रमणों की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है, जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त नहीं होती। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।।३६।।

(हरिगीत)

भूखे-प्यासे दुःखीजन लख दुखित मन से जो पुरुष।
दया से हो द्रवित बस वह भाव अनुकंपा कहा।।३६।।

क्षुधातुर (भूखे) तृषातुर (प्यासे) अथवा दुखी प्राणियों को देखकर जो मन में दुख होता है, उसके कारण उस दुखी प्राणी पर दया करना ही अनुकम्पा है।

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन लिखते हैं कि **यह अनुकम्पा ज्ञानियों के स्वरूप स्थिरतारूप भावना को नष्ट न करते हुए संक्लेशपरिणाम को दूर करने के लिए होती है; परन्तु अज्ञानियों के संक्लेशरूप ही होती है।**

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३४२

ध्यान रहे यह गाथा पंचास्तिकाय संग्रह में १३७वीं गाथा के रूप में भी पाई जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचास्तिकायसंग्रह की आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयव्याख्या टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि ह्न

''यह अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है, तृषादि दुख से पीड़ित किसी प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार **(उसके दुख को दूर करने का उपाय) करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिका में विहरते हुए जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से मन में किंचित् खेद होना है।''**

इस गाथा में अनुकम्पा (दया) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसे दुखरूप बताया गया है। **दूसरे प्राणी के दुख को देखकर अपने हृदय में जो दुख होता है और उसे दूर करने का जो भाव होता है; वह दुखरूप भाव ही अनुकम्पा है। तात्पर्य यह है कि यह अनुकम्पा का परिणाम भी दुखरूप परिणाम है, मोहरूप परिणाम है।** ●

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्म-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३५

प्रवचनसार गाथा २५२–२५४

२५१वीं गाथा में प्रवृत्ति के विषय में विभाग की बात आरंभ की थी; अब इन गाथाओं में **कालविभागादि की बात स्पष्ट करते हैं। साथ में यह भी बताते हैं कि लौकिकजनों के सम्पर्क का क्या नियम है ?**

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।।२५२।।
वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।२५३।।
एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परे त्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।।२५४।।

(हरिगीत)

श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रान्त हैं जो श्रमणजन।
उन्हें लखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत करो।।२५२।।
ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से।
निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से।।२५३।।
प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन।
के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हो।।२५४।।

रोग से, क्षुधा (भूख) से, तृषा (प्यास) अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति करो।

रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है।

यह वैयावृत्तरूप प्रशस्त चर्या श्रमणों के गौणरूप से और गृहस्थों को मुख्य रूप से होती है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा गया है; क्योंकि गृहस्थ उसी से परमसुख को प्राप्त करते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्न

''शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त मुनिराजों को शुद्धात्मपरिणति से च्युत करनेवाले उपसर्गादि का समय शुभोपयोगी मुनिराज की अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार करने की इच्छारूप प्रवृत्ति का काल है और उससे अतिरिक्त समय का काल अपनी शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिए निवृत्ति का काल है।

शुद्धात्मपरिणति प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही शुभोपयोगी श्रमण का शुद्धात्मपरिणति शून्य लोगों से बातचीत करना प्रसिद्ध है, शास्त्रों में निषिद्ध नहीं है; किन्तु अन्य निमित्त से भी प्रसिद्ध हो ह्न ऐसा नहीं है।

इसप्रकार शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के कषायकण के सद्भाव से शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप शुभोपयोग गौणरूप प्रवर्तित होता है; क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग से संबंधित है।

सर्वविरति के अभाव में मुनि भूमिका के योग्य शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण शुभोपयोगी गृहस्थों के मुख्य है। जिसप्रकार ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है; उसीप्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है; इसलिए वह शुभोपयोग क्रमश: (परम्परा से) निर्वाण सुख का कारण है।''

इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि ''शुभोपयोगी मुनिराज आत्मस्थिरतारूप भावना को नष्ट करनेवाले रोगादि का प्रसंग होने पर वैयावृत्ति करते हैं; शेष समय में अपना अनुष्ठान करते हैं।

जब कोई शुभोपयोगयुक्त आचार्य, सराग चारित्रलक्षण शुभोपयोगियों

की अथवा वीतराग चारित्र लक्षण शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्ति करते हैं; उस समय उस वैयावृत्ति के निमित्त से लौकिकजनों से सम्भाषण करते हैं, शेष समय में नहीं ह्न ऐसा भाव है।

जब कोई मुनिराज अन्य मुनिराजों की वैयावृत्ति करते हैं तो शरीर से निर्दोष वैयावृत्ति करते हैं एवं वचन से धर्मोपदेश रूप वैयावृत्ति करते हैं। औषधि, अन्न, पान आदि गृहस्थों के अधीन हैं। इसकारण वैयावृत्तिरूप धर्म गृहस्थों के मुख्य है, मुनियों के गौण है।''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि रोगी, बाल और वृद्ध मुनिराजों के साथ गुरुओं को लेना तो उचित नहीं; क्योंकि रोगी, बाल और वृद्ध मुनिराज तो अशक्त हैं, पर गुरुजन तो अशक्त नहीं हैं। इसप्रकार का विकल्प आचार्य जयसेन को भी रहा होगा; यही कारण है कि उन्होंने विकल्प (दूसरे अर्थ) के रूप में **गुरु शब्द का अर्थ स्थूलकाय भी किया है; क्योंकि काय की स्थूलता (मोटापा) भी एक बीमारी है, अशक्ति है।**

इन गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी २ कवित्त, १ चौपाई और २ दोहों ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर ५ छन्दों में एवं कविवर वृन्दावनदासजी ३ मनहरण कवित्तों में गाथा और उनकी टीका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भावलिंगी मुनिराज के शरीर में रोग आदि हो जावें और उसे देखकर अन्य भावलिंगी मुनिराज शुभोपयोग में होवें तो वे उससमय उपसर्गयुक्त मुनिराज की सेवा करते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनिराज की सेवा नहीं करते। तथा अन्य समय अपने शुद्धात्मा की आराधना में ही व्यतीत करते हैं।[१]

शुद्धात्मपरिणति में लीन मुनिराज को शुभोपयोग होने पर रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध किसी भी प्रकार के मुनिराज की सेवा के निमित्त से लौकिकजनों

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३४५

के साथ बातचीत करने का निषेध नहीं है।

सेवा का भाव आने पर मुनिराज का रोग दूर होगा ह्न ऐसा नहीं हैं, किन्तु सेवाभाव उत्पन्न होने पर लौकिकजनों के साथ बातचीत करें, वैद्य को रोगादि के बारे में पूछे? रोग के नष्ट होने में कितना समय लगेगा? कौनसा रोग है? इत्यादि बातों को पूछने का निषेध नहीं है।

इससे आगे बढ़कर यदि वे लौकिकजनों से संसारी कार्यों की बातचीत करें तो उसका अवश्य निषेध है।[१]

मुनिराज की वैयावृत्ति, जिनेन्द्र देव की भक्ति आदि शुभचर्या का भाव मुनिराज को गौणरूप से वर्तता है। आत्मा के शुद्धस्वभाव के भानपूर्वक उन्हें अन्तर लीनता बढ़ गई है, शरीर के प्रति वर्तनेवाला राग कम हुआ है। सेवा आदि का शुभभाव होता है, किन्तु वह अत्यन्त अल्प है अर्थात् गौण है। मुख्यता तो शुद्धोपयोग की है।

गृहस्थ को भी पुण्य-पाप की रुचि नहीं है। ध्येय तो एक शुद्ध आत्मा के प्रति ही है; परन्तु गृहस्थदशा में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव करके शुद्धोपयोग बहुत कम होता है और दया-दान-व्रत-पूजा आदि का शुभोपयोग मुख्यपने होता है ह्न ऐसा तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया है।[२]

गृहस्थ तथा मुनिराज ह्न दोनों को ही शुद्धात्मा की रुचि तो समान है; किन्तु अन्तर यह है कि मुनिराज के राग घट गया है तथा श्रावक को अभी भी दया-दान प्रभावना आदि का राग वर्तता है, उन्हें आत्मा का भान होने पर भी मुनिराजों के समान स्वरूप लीनता का अभाव है; अतः शुभभाव मुख्य है। **मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक दशा वर्तती है और गृहस्थ को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक दशा नहीं है।**[३]''

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३४७
२. वही, पृष्ठ ३५१ ३. वही, पृष्ठ ३५३

इसप्रकार इन गाथाओं में यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि शुभोपयोगी मुनिराज विना कारण सदा ही दूसरे मुनिराजों की सेवा में नहीं लगे रहते; अपितु जब कभी किसी शुद्धात्मपरिणति प्राप्त मुनिराज को, स्वस्थभाव को नाश करनेवाला विशेष रोग हो जाय; उस समय शुभोपयोगी सन्तों को उनकी सेवा करने का भाव आता है और उनकी सेवा करने रूप यथायोग्य प्रवृत्ति भी होती है; शेष काल में तो वे शुद्धात्मपरिणति प्राप्त करने के पुरुषार्थ में ही संलग्न रहते हैं।

शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध मुनिराजों की सेवा के निमित्त से ही वे शुभोपयोगी सन्त शुद्धात्मपरिणति शून्य लोगों से बातचीत करते हैं, अन्य किसी कारण से वे उनसे बातचीत नहीं करते।

वस्तुत: बात यह है कि वैयावृत्ति के शुभभाव और तदनुसार प्रवृत्ति मुख्यरूप से ज्ञानी गृहस्थों (श्रावकों) के पाई जाती है, शुभोपयोगी सन्तों के जो यह गौणरूप से ही कही है।

सम्यग्दृष्टि श्रमण और सम्यग्दृष्टि श्रावक ह्न दोनों को श्रद्धा की अपेक्षा शुद्धात्मा का आश्रय समान ही है; किन्तु चारित्र अपेक्षा मुनिराजों को शुद्धोपयोग की मुख्यता है और गृहस्थों को शुभोपयोग की मुख्यता है। यही कारण है कि दवाई आदि के लिए सामान्यजनों से सम्पर्क करने का भाव और तदर्थ प्रयास जितना गृहस्थ को सहज है, उतना सन्तों को नहीं। ●

भेद–विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णत: गौण है; क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ–१३२

प्रवचनसार गाथा २५५–२५७

विगत गाथाओं में शुभोपयेगियों के द्वारा की जानेवाली वैयावृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करके अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि **कारण की विपरीतता से फल में विपरीतता होती है**। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैंह्न

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि।।२५५।।
छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।।२५६।।
अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु।।२५७।।

(हरिगीत)

एकविध का बीज विध-विध भूमि के संयोग से।
विपरीत फल शुभभाव दे बस पात्र के संयोग से।।२५५।।
अज्ञानियों से मान्य व्रत-तप देव-गुरु-धर्मादि में।
रत जीव बाँधे पुण्यहीनरु मोक्ष पद को ना लहें।।२५६।।
जाना नहीं परमार्थ अर रत रहें विषय-कषाय में।
उपकार सेवा दान दें तो जाय कुनर-कुदेव में।।२५७।।

जिसप्रकार इस जगत में अनेकप्रकार की भूमियों में पड़े हुए एक से बीज धान्यकाल में विपरीतरूप से फलते हैं; उसीप्रकार प्रशस्तराग वस्तुभेद (पात्रभेद) से विपरीतरूप से फलता है।

जो छद्मस्थविहित वस्तुओं में अर्थात् छद्मस्थ के द्वारा कथित देव–शास्त्र–गुरु–धर्मादि में एवं व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दान में रत होता है; वह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं होता; किन्तु सातात्मक (लौकिक सुखरूप) भाव को प्राप्त होता है।

जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय–कषाय में अधिक

है; ऐसे पुरुषों की सेवा उपकार या दान कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में फलते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार एक समान बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति की विपरीतता होती है; उसीप्रकार प्रशस्त रागरूप शुभोपयोग एक समान होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है; क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी है।

सर्वज्ञकथित वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। वह कारण की विपरीतता से विपरीत ही होता है। छद्मस्थ कथित वस्तुयें कारण विपरीतता है और उनमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दान में रत रूप से युक्त शुभोपयोग का फल मोक्षशून्य केवल अधम पुण्य की प्राप्ति है। यह फल की विपरीतता है और वह फल सुदेव व सुमनुष्यत्व है। छद्मस्थ कथित वस्तुएँ कारणविपरीतता है। वे विपरीत कारण शुद्धात्मज्ञान से शून्यता के कारण परमार्थ से अजान और शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त न करने के कारण विषय-कषायरत पुरुष हैं। उनके प्रति शुभ उपयोगात्मक जीवों की सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवों को जो केवल अधम पुण्य की प्राप्तिरूप फल विपरीतता है; वह कुदेव, कुमनुष्यत्व है।''

उक्त गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं ह्न

''जो निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते और पुण्य को ही मुक्ति का कारण कहते हैं; उन्हें ही यहाँ छद्मस्थ शब्द से ग्रहण किया गया है, गणधरदेवादि को नहीं। इसीप्रकार शुद्धात्मा के उपदेश से रहित छद्मस्थ अज्ञानियों से जो दीक्षित हैं; उन्हें छद्मस्थविहित वस्तुएँ कहा गया है। उन पात्रों के संसर्ग से जो व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और

दानादि करते हैं, वे भी शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल नहीं हैं। इसकारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते; सुदेव, सुमनुष्यत्व को प्राप्त करते हैं ह्न ऐसा अर्थ है।

विषय-कषायों के अधीन होने से, विषय-कषाय रहित शुद्धात्मस्वरूप की भावना से रहित पुरुषों में ये सब करने से, ये कुदेवादि रूप में फलते हैं।''

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी ३ मनहरण, २ कवित्त और २ दोहा ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर ७ छन्दों में और पण्डित देवीदासजी २ कवित्त और १ इकतीसा सवैया ह्न इसप्रकार कुल ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं।

पण्डित देवीदासजी कृत छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(कवित्त छन्द)

यह सुभराग रूप जो जग मैं, कह्यौ सुभोपयोग सिरताज।
जाकै विषैं अपात्र पात्र कौं, भयौ सु और भेद उपराज।।
फल विपरीत है सु अति जाकौ, बुरौ भलौ जिन जीवन काज।
जैसे जहां भूमि की जैसी, उपजै तहां तैसहू नाज।।७५।।

इस जगत में जिस शुभराग को शुभोपयोग का सिरताज कहा जाता है; उसमें भी पात्र और अपात्र के भेद से फल में अन्तर आ जाता है। जिसप्रकार बीजरूप अनाज एक सा होने पर भी जैसी भूमि होती है, वहाँ वैसा ही अनाज उत्पन्न होता है, उसीप्रकार दानादि देने के शुभभाव एक से होने पर भी लेनेवाले पात्रों में पात्र-अपात्र के भेद से दान देनेवाले को प्राप्त होनेवाले फल में अन्तर पड़ जाता है।

अपनी बुद्धि सौं सु जे जग मैं, कल्पित कथन करैं अग्यान।
ताकरि देव धर्म गुरु थापै, जे जन करैं जाहि परवान।।
तिन्हि की नियम दान व्रत तिन्हि कौ, तिनि हि विषैं मगन धरि ध्यान।
पुन्य रूप उत्तिम सुर नर पद, लहैं जे न पावें निर्वान।।७६।।

इस जगत में अपनी बुद्धि के अनुसार अज्ञानीजन अपनी कल्पना के अनुसार कथन करके देव, गुरु और धर्म की स्थापना कर लेते हैं और उनके वचनों को प्रमाणित मानकर व्रत, नियम, दानादि करते हैं; उनमें

मग्न रहते हैं, उनका ध्यान करते हैं; वे निर्वाण की प्राप्ति तो नहीं कर पाते; पर शुभभावों के फल में देव और मनुष्यादि गति में उत्तम पद प्राप्त कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि अज्ञानीजन भी शुभभाव करके थोड़ी-बहुत अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं।

(सवैया इकतीसा)

महासठ लोग जे न तिन्हि कैं सुभोपयोग।
सुद्ध आतमा के जानपनैं करि हीन हैं।
क्रोध मान माया लोभवंत तिन्हि कैं न बोध।
विषैं रस भोग के विषैं सदा सुलीन है।।
तिन्हैं जे सु गुरु मानि सेवैं वैयावृत्त्य करैं।
प्रीति सौं अहार देत कहैं ये प्रवीन हैं।।
जाकौ फल पाइ ते निदान नीच देव होत।
होत नर नीच पापी जे सु पराधीन है।।७७।।

आत्मज्ञान हीन अज्ञानियों को उच्चकोटि का शुभोपयोग नहीं होता। क्रोध, मान, माया व लोभवाले ज्ञानहीन वे लोग पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों में लीन रहते हैं ह्न ऐसे लोगों को गुरु मानकर जो लोग उनकी सेवा करते हैं, वैयावृत्ति करते हैं, प्रीति से उन्हें आहार देते हैं और कहते हैं कि ये प्रवीण पुरुष हैं; उसके फल में निदान बंध के कारण वे पराधीन पापी लोग नीचजाति के देव और नीची जाति के मनुष्य होते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार अनाज के बीज एक ही प्रकार के होने पर भी भूमि की विपरीतता से बीज की उत्पत्ति में भी विपरीतता होती है अर्थात् अच्छी भूमि में उस बीज का अच्छा फल उत्पन्न होता है और खराब भूमि में खराब फल उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न नहीं होता।

मिट्टी के बर्तन में पकाई रसोई और तपेली में पकाई रसोई का स्वाद भिन्न-भिन्न होता है। कुएँ का पानी और नदी का पानी ह्न इन दोनों का भी

स्वाद भिन्न-भिन्न होता है।[१]

यहाँ शुभ के कारण में विपरीतता है; अतः कार्य में भी विपरीतता है। ज्ञानी के शुभभाव परम्परा से मोक्ष के कारण हैं और अज्ञानी के शुभभाव संसार का कारण हैं।

गाथा २५४ में धर्मी के शुभराग की दिशा बताई थी और इस गाथा में अज्ञानी के शुभभाव की दिशा विपरीत होने से फल में भी विपरीतता होना बताया है।[२]

तत्त्व के तीव्र आराधक जीव सिद्धगति और तत्त्व के विराधक जीव निगोदगति प्राप्त करते हैं। आराधकतापूर्वक शुभभाव हो तो जीव देवगति में जाए, किन्तु संसार परिभ्रमण चलता रहता है तथा विराधकतापूर्वक अशुभभाव हो तो नरकगति में जाता है। पात्रता की विपरीतता से फल में भी विपरीतता आती है।[३]

धर्मी जीव सर्वज्ञ, सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ की वाणी में आये हुये वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करता है। वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कहनेवाले कुदेवादि को वंदन नहीं करता और सर्वज्ञ के प्रति शंका नहीं करता।

अज्ञानी जगत मानता है कि भगवान मदद करेंगे; किन्तु ऐसा मानने से पुण्य का नाश होता है और सर्वज्ञ का अनादर होता है। अतः जिसे पुण्य-पाप का आदर है, वह धर्म को नहीं जानता तथा धर्मी जीव पुण्य-पाप के आधार से धर्म नहीं मानता।[४]

कारण की विपरीतता होने पर फल भी विपरीत ही होता है। छद्मस्थ अज्ञानी द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप कारण विपरीतता ही है।

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान एकाग्रता को सर्वज्ञदेव धर्म कहते हैं और अज्ञानी पुण्यक्रिया में धर्म मानता है। इस जीव को आत्मा तथा देव-गुरु-शास्त्र का भान नहीं है; इसलिये बाह्य साधनों में धर्म मानता है। अन्तर में

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३६४
२. वही, पृष्ठ ३६४
३. वही, पृष्ठ ३६५
४. वही, पृष्ठ ३७२

अनन्त शांति भरी है, उसमें शांति न मानकर बाह्य में शांति मानता है।[१]

अज्ञानी परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव से धर्म न मानकर पुण्य से धर्म मानता है। ज्ञान-दर्शन स्वभाव के आधार से धर्म और वीतरागता प्रगट होती है; उसे नहीं मानता।

ऐसे पुरुषों के प्रति जो जीव उपकार करते हैं, उसके फल में कुदेवपना व कुमनुष्यपना मिलता है।[२]

जो जीव पुण्य से धर्म मानते या मनाते हैं। पूजा-व्रतादि से धर्म होना मानते हैं ह्न वे अज्ञानी हैं। जो जीव शुभभाव अथवा दया-दानादि से पाप होगा ह्न ऐसा मानते हैं, वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

दया-दानादि के भाव पुण्य हैं; किन्तु जो पुण्य को धर्म का कारण मानता है, वह आत्मा को नहीं मानता, भगवान को भी नहीं मानता, उसे कदापि धर्म नहीं हो सकता, वह जीव वीतरागी दशा प्राप्त नहीं कर सकता।[३]

जो जीव अज्ञानी जीवों के प्रति शुभभाव करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, पूजा, दया-दान करते हैं, उन्हें पुण्यबंध तो होता है; किन्तु कारण में विपरीतता होने से फल में भी विपरीतता ही होती है। इसकारण वे जीव व्यंतर, भवनवासी जाति के निम्न देव अथवा रोगी, निर्धन मनुष्य होते हैं।

पुण्य के तीन प्रकार कहे हैं ह्न

१. चैतन्य स्वभाव के आदर से युक्त धर्मी जीव को शुभराग के फल में श्रेष्ठ पुण्यबंध होता है, उसे क्रम से नष्ट करके वह शीघ्र ही मोक्षदशा की प्राप्ति करता है।

२. शुद्धस्वभाव के भान बिना व्रत-तपादि करें, उसे शुभभाव के फलस्वरूप हल्का पुण्य बंधता है, और मनुष्यपना मिलता है; मोक्ष नहीं मिलता अर्थात् चारगतिरूप परिभ्रमण नहीं छूटता।

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३७३-३७४
२. वही, पृष्ठ ३८१ ३. वही, पृष्ठ ३८१

३. स्वरूप को विपरीत माननेवाले एवं कुदेव-कुगुरु की सेवा-पूजा-दान करनेवाले को शुभ के फल में निम्न जाति का पुण्य बंधता है, जिससे कुदेव व कुमनुष्यपना मिलता है; किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। इसप्रकार विपरीतता के कारण संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है।

इसप्रकार चरणानुयोग में मिथ्यादृष्टि के पुण्य को यथावत् बताकर उसका फल स्पष्ट किया है।[१]''

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में सबकुछ मिलाकर यही कहा गया है कि जिसप्रकार बीज एक समान होने पर भी भूमि के भेद से फसल में अन्तर आ जाता है; उसीप्रकार शुभभाव समान होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी को एकसा फल नहीं मिलता; भिन्न-भिन्न मिलता है; केवल भिन्न-भिन्न ही नहीं, अपितु परस्पर विपरीत फल मिलता है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये तत्त्वों के श्रद्धानपूर्वक होनेवाले शुभभाव परम्परा मोक्ष के कारण कहे गये हैं; किन्तु अज्ञानी छद्मस्थ कथित तत्त्व विपरीतता के कारण हैं; अत: उनकी श्रद्धा करनेवालों के **शुभभाव एकाध भव में अनुकूलता प्रदान करके अन्ततोगत्वा निगोद में ले जाते हैं। उन्हें जो एकाध भव की अनुकूलता प्राप्त होती है; वह सुदेव और सुमनुष्यत्व रूप भी हो सकती है और भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों या कुमनुष्यों के रूप में भी हो सकती है।**

अत: शुभभाव और उनके फल में प्राप्त होनेवाली क्षणिक अनुकूलता में सुखबुद्धि छोड़कर वीतरागी सर्वज्ञदेव कथित तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३८२

पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नजर आते हैं, पर द्रव्य-दृष्टिवंत के पर्यायदृष्टि इतनी गौण हो गई है, विशेषकर अनुभूति के काल में, कि उसमें विकार दृष्टिगत होता ही नहीं है। उसे विकार से क्या? होगा तो होगा। **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३१**

प्रवचनसार गाथा २५८–२५९

विगत गाथाओं में 'कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है' ह्न यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **कारण की विपरीतता से अविपरीत फल नहीं मिलता, अविपरीत फल तो अविपरीत कारण से ही होता है।** गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति।।२५८।।
उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स।।२५९।।

(हरिगीत)

शास्त्र में ऐसा कहा कि पाप विषय-कषाय हैं।
जो पुरुष उनमें लीन वे कल्याणकारक किसतरह।।२५८।।
समभाव धार्मिकजनों में निष्पाप अर गुणवान हैं।
सन्मार्गगामी वे श्रमण परमार्थ मग में मगन हैं।।२५९।।

शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि जब विषय-कषाय पाप हैं, तब उनसे प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) पुरुष निस्तारक (पार लगाने वाले) कैसे हो सकते हैं?

जिसका पापभाव रुक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान है और जो गुणों का सेवन करनेवाला है, वह पुरुष सुमार्ग का भागी होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''विषयकषाय तो पाप ही हैं, विषयकषायवान पुरुष भी पाप हैं और उन विषयकषायवान पुरुषों में अनुरक्त जीव भी पाप में अनुरक्त होने से पाप ही हैं। इसलिए जब विषयकषायवान पुरुष स्वानुरक्त पुरुषों को, पुण्य

के कारण भी नहीं होते तो फिर वे संसार से निस्तारक कैसे हो सकते हैं ? इसलिए उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता।

पाप के रुक जाने से सभी धार्मिकों के प्रति स्वयं मध्यस्थ होने से और गुण समूह का सेवन करने से जो श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत् परिणति से रचित एकाग्रतारूप सुमार्ग के भागी हैं; वे श्रमण स्व और पर को मोक्ष व पुण्य के आयतन हैं; इसलिए वे अविपरीत फल के कारण हैं ह्न ऐसी प्रतीति करना चाहिए।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मात्र दो-दो पंक्तियों में तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट कर देते हैं।

इन गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी एक-एक सवैया तेईसा में प्रस्तुत करते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण, १ दोहा और १ मत्तगयन्द में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

इन्द्रिनि के भोगभाव विषय कहावैं और,
क्रोधादिक भाव ते कषायरूप वरनी।
इन्हैं सर्व सिद्धांत में पाप ही मंथन करी,
तथा इन्हें धारै सोऊ पापी उर धरनी।।
ऐसे पाप भारकरि भरे जे पुरुष ते सु,
भक्तनि को कैसे निसतारें निरवरनी।
आपु न तरेंगे और न तारेंगे सु भक्तनि को,
दोनों पाप भार भरे भोगैं पाप करनी।।४३।।

इन्द्रियों के भोगों को विषय कहते हैं और क्रोधादिक भावों को कषाय कहा जाता है। सर्व शास्त्रों का मंथन करें तो पायेंगे कि सभी जगह इन विषयकषायों को पाप ही कहा गया है और इन विषयकषायों को धारण करनेवाले भी पापी ही हैं ह्न ऐसा हृदय में धारण करना चाहिए।

इसप्रकार के पापभार से भरे हुए पुरुष, भक्तों को कैसे तार सकते हैं ? ये लोग न तो स्वयं पार होंगे और न भक्तों को पार लगा सकते हैं। ये और

इनके भक्त ह्न दोनों ही लोग पाप के भार से भरे हुए अपनी पाप करनी का फल भोगेंगे।

(दोहा)

विषय कषायी जीव को, गुरु करि सेयें मीत।
उत्तम फल उपजै नहीं, यह दिढ़ करु परतीत।।४४।।

जो लोग विषयकषायी जीवों को गुरु मानकर उनकी सेवा करते हैं; उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती ह्न दृढ़तापूर्वक इसप्रकार की प्रतीति करना चाहिए।

(मत्तगयन्द)

जो सब पाप क्रिया तजि कै, सब धर्म विषैं समता विसतारैं।
ज्ञान गुनादि सबै गुन को, जो आराधत साधत हैं श्रुतिद्वारैं।।
होहिं सोई शिवमारग के, बर सेवनहार मुनीश उदारैं।
आपु तरैं भवि को भव तारहिं, पावन पूज्य त्रिलोक मझारैं।।४५।।

जो मुनिराज सभीप्रकार की पापक्रियाओं को तजकर सभी धर्मों में समताभाव धारण करते हैं और शास्त्रों के आधार पर ज्ञानादि सभी गुणों की आराधना करते हैं; वे मुनिराज ही उदारतापूर्वक मुक्तिमार्ग का सेवन करनेवाले हैं। वे परमपूज्य मुनिराज त्रिलोक में स्वयं तर जाते हैं और भव्यजीवों को भी भवसागर से पार उतार देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध चैतन्यतत्त्व का आश्रय छोड़कर पाँच इन्द्रिय विषयों को भोगनेवाला अधर्मी है। जिसे राग की मंदता भी नहीं है, वह जीव पापी ही है; क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ के समस्त परिणाम पापरूप ही हैं।[१]

अज्ञानी जीवों के प्रति जो अनुराग करता है अर्थात् जो कुदेवादि को मानता है, रागी-द्वेषी-देवताओं से धर्म या पुण्य मानता है, उसका पुण्य भी पापरूप परिवर्तन हो जाता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३८४

जिन गुरुओं को विषय-कषाय की आस है, ब्रह्मचर्य नहीं है, लक्ष्मी और व्यापार में लाभ दिखता हैं; वे सब कुगुरू है। पैसा आदि कमाने का भाव करना अथवा उसका उपाय बताना तो पाप ही है और पाप की अनुमोदना करनेवाला भी पापी ही है।[१]

जिसे रागरहित अपने शुद्धस्वभाव का भान है, उसे सर्वज्ञदेव का भान है। सर्वज्ञदेव को वीतरागदशा वर्तती है। वे एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानते हैं, उन्हें आहारादि नहीं होते, वे अठारह दोषों से रहित होते हैं।

जिसे वस्तुस्वरूप का भान है, उसे गुरु की भी यथार्थ प्रतीति है। चैतन्य स्वभाव के उग्र अवलम्बन से मुनियों का तीव्र राग घट गया है और वे केवलज्ञान लेने की तैयारी में हैं। उनका राग घटने से बहुत से संयोग छूट गये हैं।[२]

शरीर की क्रिया तथा पुण्य से धर्म माननेरूप सबसे बड़ा पाप जिनके विराम हो चुका है, वे मुनिराज अपने चैतन्य स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है ह्न ऐसा मानते हैं। शरीरादि को परपदार्थ, पुण्य-पाप को विकार तथा निर्विकारी स्वभाव को अपना मानते हैं। उनके मिथ्यात्वरूप पाप टल गया है और संसार के अन्य भी बहुत से पापभाव विराम हो चुके हैं।[३]

जिसप्रकार सिद्ध भगवन्तों ने सिद्धपद पाया है; उसीप्रकार मुनिराज अपने एकाग्रस्वरूप मोक्षमार्ग को दर्शाते हैं। मुनिराज को सुमार्ग प्रगटा है। अन्तरस्वरूप लीनता बढ़ गई है। बाह्य-आभ्यन्तर वीतरागी नग्नदशा वर्तती है। उपकरण रूप में मात्र मयूरपींछी और कमण्डल होता है। आहार लेने का, व्याख्यान या शास्त्र बाचने का अल्पराग वर्तता है। शेष अन्तर्दशा में अत्यधिक निर्मलता है।[४]

मुनिराज स्व एवं पर को मोक्ष एवं पुण्य का स्थान दर्शाते हैं। आप शुद्धस्वभाव में अत्यधिक उग्र पुरुषार्थ करते हैं। कदाचित् अल्पराग शेष

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३८४
२. वही, पृष्ठ ३८४-३८५
३. वही, पृष्ठ ३८६-३८७
४. वही, पृष्ठ ३८८

रहे तो उसके फल में पुण्य बंधता है। अन्य मुनिराज और श्रावक ऐसे ज्ञानी मुनियों के पास तत्त्व समझकर सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि वे जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते तो शुभभाव के फल में पुण्य बँध अवश्य करते हैं; अतः मुनिराज अन्य के लिए मोक्ष तथा पुण्य के कारण हैं।[१]

धर्म तो पुण्य-पाप रहित चैतन्य के आश्रय से प्रगट होता है ह्न ऐसा माननेवाला ही सच्चा मुनि है। जो सच्चे मुनिराज की श्रद्धा करता है, वह आत्मद्रव्य की सच्ची श्रद्धा करता है। वह जीव भविष्य में विशेषस्थिरता पूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है और किंचित् राग रहे तो पुण्यबंध करता है।[२]''

इन गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि जो पुरुष विषय-कषाय के पोषण में मग्न हैं, विषय-कषाय की पूर्ति को सुख मानते हैं; ऐसे अज्ञानी जीवों का विषय-कषाय के पोषणरूप उपकार करना धर्मरूप कैसे हो सकता है, धर्म का कारण भी कैसे हो सकता है; वह तो साक्षात् पाप है। ऐसे पापी जीव स्व-पर का कल्याण कैसे कर सकते हैं। उनकी सेवा करना कल्याण का कारण नहीं है।

जो ज्ञानी जीव स्व-पर के बीच भेदज्ञान करनेवाले हैं, विषय-कषायों से विरक्त हैं; वे ज्ञानी जीव ही स्व-पर का कल्याण करनेवाले हैं। अतः उनकी सेवा करना भी कल्याण का कारण है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३८८ २. वही, पृष्ठ ३८९

सम्यग्दर्शन की प्रतिज्ञा है कि ह्न ''मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करनेवाले की इच्छा न होने पर भी, मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिए मुझे ग्रहण करने से पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३६

प्रवचनसार गाथा २६०

जो बात विगत गाथाओं में समझाई गई है; **अब उसी बात को इस गाथा में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं।** गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

असुभोवयोगरहिदा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।२६०।।

(हरिगीत)

शुद्ध अथवा शुभ सहित अर अशुभ से जो रहित हैं।
वे तार देते लोक उनकी भक्ति से पुणबंध हो।।२६०।।

अशुभोपयोग से रहित जो मुनिराज शुद्धोपयोग से या शुभोपयोग से सहित होते हैं, वे मुनिराज लोगों को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करते हैं।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग के उच्छेद से अशुभोपयोग से रहित मुनिराज समस्त कषायोदय के विच्छेद से कभी शुद्धोपयोग युक्त और कभी प्रशस्त राग के विपाक से शुभोपयोग से युक्त होते हैं। वे मुनिराज स्वयं मोक्षायतन होने से लोक को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिभाव से जिन लोगों का प्रशस्तभाव रहता है, वे लोग पुण्य के भागी होते हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को सरल-सुबोध भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''शुद्धोपयोग और शुभोपयोग परिणत पुरुष पात्र हैं। निर्विकल्प समाधि के बल से, शुभाशुभ उपयोग से रहित काल में, कभी वीतरागलक्षण शुद्धोपयोग से सहित तथा कभी मोह, द्वेष और अशुभराग से रहित काल में, सरागलक्षण शुभोपयोग सहित होते हुए भव्यजीवों को तारते हैं और उनके प्रति भक्ति रखने वाले श्रेष्ठ भक्त स्वर्ग प्राप्त करते हैं और परम्परा से

मोक्ष प्राप्त करते हैं।''

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ तेईसा सवैया में और कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण कवित्त में प्रस्तुत करते हैं।

वृन्दावनदासजी कृत मनहरण छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

अशुभोपयोग जो विमोह रागदोष भाव,
तास तैं रहित होहि मुनि निरग्रंथ है।
शुद्ध उपयोग की दशा में केई रमैं केई,
शुभ उपयोगी मथैं विवहार पंथ है।।
तेई भव्यजीवनि को तारैं हैं भवोदधि तैं,
आपु शिवरूप पुन्यरूप पूज पंथ है।
तिनही की भक्ति तैं भविक शुभथान लहैं,
ऐसे चित चेत वृन्द भाषी जैनग्रंथ है।।४६।।

मोह-राग-द्वेषादि रूप अशुभोपयोग से रहित निर्ग्रन्थ मुनिराजों में अनेक मुनिराज तो शुद्धोपयोगदशा में रमण करते हैं और अनेक मुनिराज शुभोपयोगरूप व्यवहारिक पंथ में तत्त्व का मंथन करते हुए भव्यजीवों को संसार-समुद्र से पार करने में निमित्त बनते हैं तथा स्वयं शुद्धभावरूप या पुण्यभावरूप पंथ में स्थित हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि उक्त मुनिराजों की भक्ति से भव्यजीव शुभस्थान को प्राप्त करते हैं ह्न ऐसा जैन ग्रन्थों में कहा है। इसलिए हे भव्यजनों ! इसमें चेतो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज को अशुभ परिणाम नहीं होते। उन्हें बाह्य-आभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा वर्तती है। निर्ग्रन्थदशा के बिना मुनिपना नहीं होता। मुनिराज कभी ध्यान में स्थिर होकर वीतरागी दशा में ठहरते हैं तो कभी पाँच महाव्रतादि के शुभ परिणाम में जुड़ते हैं। मुनिराज जगत के जीवों को

तारने में निमित्त हैं। उनके प्रति भक्ति रखनेवाला जीव पुण्य को प्राप्त करता है।[१]

भावलिंगी महासमर्थ मुनिराज को अन्तरदशा में अधिकता भी वर्तती है और विकल्प उठने पर उनके द्वारा शास्त्र की रचना भी हो जाती है। ऐसे मुनिराज धर्म के स्थान हैं, वे लोक को तारते हैं।[२]

जो मुनिराज की भक्ति, वंदना, वैयावृत्ति आदि करते हैं, उन्हें लोकोत्तर पुण्य बँधता है।[३]

मुनिराज अन्य को तारने में निमित्त हैं। उनकी भक्ति करने वाला जीव पुण्यशाली है और वह स्वभाव में विशेष स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करता है।[४]''

उक्त गाथा में यह कहा गया है कि सर्वप्रकार से सेवा के पात्र तो शुद्धोपयोगी सन्त ही हैं। साथ में जो शुभोपयोगी सन्त मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से उत्पन्न शुद्धपरिणति से सम्पन्न हैं; पर **अभी शास्त्रादि लिखने, पढने-पढानेरूप शुभोपयोग में हैं; वे भी सर्वप्रकार से सेवा करने योग्य हैं; परन्तु** विषय-कषाय में संलग्न लोगों की सेवा कल्याणकारी नहीं है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३९१
२. वही, पृष्ठ ३९३
३. वही, पृष्ठ ३९३
४. वही, पृष्ठ ३९५

हवा, पानी और भोजन आदि, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं; किन्तु दु:ख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी, तब तक पूर्ण सुखी होना संभव नहीं है। मोह-राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो; इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१७७

प्रवचनसार गाथा २६१–२६३

अब आगामी गाथाओं में आचार्यदेव विगत गाथाओं में प्ररूपित विषयवस्तु को विस्तार से समझाते हैं और **श्रमणाभासों की सभी प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं**। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो।।२६१।।
अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि।।२६२।।
अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं।।२६३।।

(हरिगीत)

जब दिखें मुनिराज पहले विनय से वर्तन करो।
भेद करना गुणों से पश्चात् यह उपदेश है॥२६१॥
गुणाधिक में खड़े होकर अंजलि को बाँधकर।
ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन॥२६२॥
विशारद सूत्रार्थ संयम-ज्ञान-तप में आढ्य हों।
उन श्रमणजन को श्रमणजन अति विनय से प्रणमन करें॥२६३॥

प्रकृत वस्तु अर्थात् जिसका प्रकरण चल रहा है ह्न ऐसी नग्न दिगम्बर दशा को देखकर हे श्रमण ! प्रथम तो अभ्युत्थान आदि क्रियाओं द्वारा उनका योग्य सत्कारादि करो; बाद में गुणानुसार भेद करना ह्न ऐसा उपदेश है।

शास्त्रों में, गुणों में अधिक के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, हाथ जोड़ना और प्रणाम करना कहा है।

श्रमणों के द्वारा जिनसूत्रों के मर्मज्ञ और संयम, तप और ज्ञान में समृद्ध श्रमण; अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मविशुद्धि की हेतुभूत प्रकृत वस्तु अर्थात् जिनका प्रकरण चल रहा है, उन श्रमणों के प्रति उनके योग्य क्रियारूप प्रवृत्ति से गुणाधिकतानुसार यथायोग्य व्यवहार करने का श्रमणों के लिए निषेध नहीं है।

अपने से अधिक गुणवान के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियाँ श्रमणों को निषिद्ध नहीं हैं।

सूत्र और पदार्थों के विशद् ज्ञान द्वारा जिनके संयम, तप और स्वतत्त्व का ज्ञान प्रवर्तता है; केवल उन श्रमणों के प्रति ही अभ्युत्थानादि प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं; उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासों के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं में समागत अभ्युत्थानादि शब्दों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ह्न

''स्वागतार्थ सामने जाना अभ्युत्थान है; स्वीकार करना ग्रहण है; शुद्धात्म भावना के सहकारी कारण के हेतु से सेवा करना उपासना है; शुद्धात्मभावना के सहकारी कारण के हेतु से भोजन, शयन आदि की चिन्ता करना पोषण है; भेदाभेदरत्नत्रयरूप गुण को प्रकाशित करना सत्कार है; अंजलि बाँधकर नमस्कार करना अजंलिकरण है और नमस्कार हो ह्न ऐसा वचन बोलना प्रणाम है।

जो बहुश्रुत (बहुत से शास्त्रों के विशेषज्ञ) तो हैं, पर चारित्र में अधिक नहीं हैं; वे भी यथायोग्य वंदन करने योग्य हैं; क्योंकि वे परमागम के अभ्यासी हैं।

उनकी वंदना करने का दूसरा कारण यह भी है कि वे पहले से ही सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान में दृढ़तर हैं।''

उक्त गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी १ कवित्त, १ छप्पय और १ इकतीसा सवैया ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं और कविवर वृन्दावनदासजी १ माधवी, १ मनहरण, १ छप्पय और १ दोहा ह्न इसप्रकार कुल ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(माधवी)

तिहि कारन तैं गुन उत्तमभाजन, श्रीमुनि को जब आवत देखो।
तब ही उठि वृन्द खड़े रहि कै, पद वंदि पदांबुज की दिशि पेखो।।
गुनवृद्ध विशेषनि की इहि भांति, सदीव करो विनयादि विशेखो।
उपदेश जिनेश को जान यही, विधि सों वरतो चहुसंघ सरेखो।।४७।।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि उक्त कारणों से जब गुणवान उत्तम पात्र मुनिराजों को आता हुआ देखो तो; उसीसमय उठकर, खड़ा रहकर, चरणों की वंदना करके, चरण-कमलों की दिशा में ही देखते रहो। अनेक विशेषताओं के धनी गुणवृद्ध मुनिराजों की इसीप्रकार सदा विशेष विनयादि करना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान का यह उपदेश है। यह जानकर चारों संघों के प्रति इसीप्रकार विनयपूर्वक वर्तन करना चाहिए।

(मनहरण)

आवत विलोकि खड़े होय सनमुख जाय,
आदर सों आइये आइये ऐसे कहिकैं।
अंगीकार करिकैं सु सेवा कीजैं वृन्दावन,
और अन्नपानादि सों पेखिये उमहिकै।।
बहुरि गुननि की प्रशंसा कीजे विनय सों,
हाथ जोरे रहिये प्रनाम कीजै ठहिकै।
मुनि महाराज वा गुनाधिक पुरुषनि सों,
याही भांति कीजे श्रुतिसीखरीति गहिकै।।४८।।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि मुनिराजों को आता हुआ देखकर, खड़े होकर, उनके सन्मुख जाकर, आदरपूर्वक 'आइये, आइये' ह्न ऐसा कहकर,

अंगीकार करके, उनकी सेवा करना चाहिए और उत्साहपूर्वक उन्हें अन्न-पानादि देना चाहिए।

मुनिराज एवं गुणवान पुरुषों की भी विनय से विशेष प्रशंसा करना चाहिए, हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए, शास्त्रों में लिखी शिक्षा के अनुसार यह सब करना चाहिए।

(छप्पय)

जे परमागम अर्थमाहिं, परवीन महामुनि।
अरु संजम तप ज्ञान आदि, परिपूरित हैं पुनि।।
तिनहिं आवतौ देखि, तबहि मुनिहू कहूँ चहिये।
खड़े होय सनमुख सुजाय, आदर निरबहिये।।
सेवा विधि अरु परिनाम विधि, दोनों करिवो जोग है।
है उत्तम मुनिमगरीति यह, जहँ सुभावसुखभोग है।।४९।।

जो मुनिराज परमागम में प्रतिपादित शुद्धात्मपदार्थ में प्रवीन हैं; संयम, तप और ज्ञान आदि में परिपूर्ण हैं; उनको आता हुआ देखकर मुनिराजों का भी यह कर्तव्य है कि खड़े होकर, सन्मुख जाकर ऊपर कहे अनुसार निर्वाह करना चाहिए। जिनागम कथित शारीरिक सेवा और परिणामों की निर्मलता ह्न दोनों करना योग्य है। यह मुनियों की रीति है, जिसमें स्वाभाविक सुख का उपभोग होता है।

(दोहा)

दरवित जे मुनि भेष धरि, ते हैं श्रमणाभास।
तिनकी विनयादिक क्रिया, जोग नहीं है भास।।५०।।

मुनिभेष को धारण करनेवाले जो द्रव्यलिंगी श्रमणाभास हैं, उनके प्रति उक्त विनयादि क्रियायें करना योग्य नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज को देखते ही विनयपूर्वक खड़ा होना चाहिए, उनके समक्ष जाकर विनयादि करना चाहिए। पश्चात् परीक्षापूर्वक मुनिराज में

विशेष निर्मलता है या नहीं आदि बातों की लक्षणों से पहिचान करना चाहिए।

अन्यत्र कथन आता है कि मुनिराज की परीक्षा तीन दिन तक करना चाहिए, किन्तु प्रथम मान-सत्कारादि अवश्य करो। उसके पश्चात् गुण-प्रमाण पूर्वक भेद करो ह्न ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।[१]

प्रथमतः बाह्य में नग्नदशा आदि यथायोग्य लिंग देखकर सत्कारपूर्वक गुणों की परीक्षा करना चाहिए। अपने से गुण या दीक्षा में बड़े हों तो उनको देखकर खड़े होकर ''अत्रो-अत्रो'' कहना चाहिए। मुनिराज को थकान हो तो उनके पैर दबाना चाहिए। उनके आहार एवं शयन का विचार करना चाहिए। यह जगह मुनियों के लिए अनुकूल होगी या नहीं, इसका भी विचार करना चाहिए। उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्हें विनयादि से हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए।[२]

वास्तव में एक मुनिराज अपने से अधिक गुणयुक्त मुनि को देखकर विनय से खड़े होते हैं। उनका आदर करते हैं। गृहस्थ उनकी सेवा करते हैं। उनके आहार, पानी, शयन इत्यादि का विचार करते हैं। उनके गुणों की प्रशंसा करके विनयभाव से हाथ जोड़ते हैं, प्रणामादि विधि आचरते हैं।

यदि मुनिराज निजस्वरूप में लीन हों तो कोई विधि नहीं करना चाहिए, किन्तु शुभोपयोग में हों तो सर्वज्ञ के कहे अनुसार मुनिस्वरूप को पहिचानकर उनका आदर-सत्कार अवश्य करना चाहिए।[३]

जबतक, स्वस्वरूप में स्थिरता नहीं होती, तबतक अन्य मुनिराजों के प्रति आदर का विकल्प उठता है। यद्यपि मुनिराज जानते हैं कि यह शुभविकल्प हैं, मेरी शांति को नष्ट करनेवाले विष के कुंभ है। इनसे मुझे धर्म नहीं हो सकता, तथापि जबतक विकल्पयोग्य भूमिका होती है, तबतक अन्य मुनिराजों के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता।[४]

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ३९७
२. वही, पृष्ठ ४०३
३. वही, पृष्ठ ४०४
४. वही, पृष्ठ ४०८

जिन मुनिराजों को बाह्य में नग्नदशा वर्तती है। अनेकप्रकार के तप और संयम वर्तता है; किन्तु अन्तरलीनतापूर्वक आत्मा की श्रद्धा नहीं वर्तती वे मुनि श्रमणाभास है। वे आदरयोग्य नहीं हैं।[१]''

उक्त गाथाओं और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका के प्रतिपादन की विशेषता यह है कि गाथाओं में तो यह कहते हैं कि यदि कोई मुनिराज सामने से आ रहे हों तो उनकी नग्न दिगम्बर दशा देखकर सर्वप्रथम खड़े होकर उनकी विनय और उन्हें यथायोग्य नमस्कारादि करना चाहिए। गुणों के अनुसार भेद करना तो उसके बाद की बात है। **तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से तो सभी की विनय करना चाहिए। बाद में गुणाधिकता के अनुसार भेद करके विनय में यथायोग्य अन्तर किया जाना चाहिए। इसी बात को टीका में इसप्रकार लिखते हैं कि मुनिराजों की सामान्य विनय और गुणाधिकों की विशेष विनय का जिनागम में निषेध नहीं है।**

तात्पर्य यह है कि करने योग्य तो एकमात्र शुद्धोपयोग ही है; किन्तु शुभोपयोग के काल में यदि उक्त विनयादि क्रियायें होती हैं तो उनसे उनका मुनित्व खण्डित नहीं होता। पुण्यबंध की कारणरूप ऐसी क्रियायें मुनि भूमिका में अनुचित नहीं हैं; किन्तु उनसे बंध ही होगा, निर्जरा नहीं।

यद्यपि श्रमणों के प्रति विनय-वैयावृत्ति आदि का निषेध नहीं है; तथापि श्रमणाभासों के प्रति तो निषेध ही है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४०८

दिव्यध्वनि में स्वभावगत स्वतंत्रता की घोषणा के साथ-साथ पर्याय में पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए स्वावलम्बन का मार्ग बताया गया है। रंग, राग और गुणभेद से भिन्न निज शुद्धात्मा पर दृष्टि केन्द्रित करना ही स्वावलम्बन है। स्वतन्त्रता अपने बल पर ही प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतन्त्रता भीख में प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ नहीं हैं और न उन्हें दूसरों के बल पर प्राप्त किया जा सकता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-८३

प्रवचनसार गाथा २६४

विगत गाथाओं में 'श्रमणों के साथ, श्रमणों और श्रावकों को कैसा व्यवहार करना चाहिए' ह्न यह स्पष्ट करने के उपरान्त अन्त में यह कहा गया है कि श्रमणाभासों के प्रति तो उक्त विनय-व्यवहार सर्वथा निषिद्ध ही है; **अत: अब इस गाथा में यह बताते हैं कि वे श्रमणाभास कैसे होते हैं ?** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे।।२६४।।

(हरिगीत)

सूत्र संयम और तप से युक्त हों पर जिनकथित।
तत्त्वार्थ को ना श्रद्धहें तो श्रमण ना जिनवर कहें।।२६४।।

जो श्रमण सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि जिनवरकथित आत्मप्रधान पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता; तो वह श्रमण श्रमण नहीं है ह्न ऐसा आगम में कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आगम के ज्ञाता तथा संयम और तप में स्थित होने पर भी जो श्रमण; अपने आत्मा के द्वारा ज्ञेयरूप से पिये (जाने) जानेवाले अनन्त पदार्थों से भरे हुए आत्मप्रधान इस विश्व का श्रद्धान नहीं करते, वे श्रमणाभास हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ इकतीसा सवैया और वृन्दावनदासजी १ कवित्त में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत कवित्त इसप्रकार है ह्न

(कवित्त)

संजम तप सिद्धांत सूत्र, इनहू करि जो मुनि है संजुक्त।
जो जिनकथित प्रधान आतमा, सुपरप्रकाशक तैं वर शुक्त।।
तासु सहित जे सकल पदारथ, नहिं सरदहै जथा जिनउक्त।
तब सो मुनि न होय यह जानो, है वह श्रमणाभास अजुक्त।।५१।।

जो मुनिराज सिद्धान्त सूत्रों के ज्ञाता और संयम व तप से युक्त हैं; फिर भी जिनवर कथित स्वपरप्रकाशक आत्मा है प्रधान जिसमें; ऐसे सम्पूर्ण पदार्थों का श्रद्धान नहीं करते; वे मुनिराज श्रमण नहीं, श्रमणाभास हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो मुनिराज सर्वज्ञकथित शास्त्रों को जानते हैं, अव्रतादि परिणाम टालते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उपवास-व्रत-तपपूर्वक कषायमंदता के परिणाम करते हैं, उपसर्ग होने पर भी स्वरूप से च्युत नहीं होते; वे भी यदि तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित आत्मा की श्रद्धा नहीं करते तो वे श्रमण नहीं; अपितु श्रमणाभास हैं।[१]

चारित्र का पालन करनेवाले होने पर भी जिसे आत्मा का भान नहीं, वे साधु नहीं है।[२] **जो मुनिराज आत्मा को यथार्थ जानते हैं, वे सुख की प्राप्ति करते हैं तथा जो मुनिराज आत्मा की श्रद्धा नहीं करते, वे व्रत-तपादि में लीन होनेपर भी साक्षात् श्रमणाभास ही हैं।[३]''**

इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह कहा गया है कि यद्यपि आगम के ज्ञाता हों, संयम और तप को धारण करनेवाले हों; तथापि यदि आत्मा है प्रधान जिसमें ह्न ऐसे इस लोक का जिन्हें श्रद्धान नहीं हो तो वे श्रमण, श्रमण नहीं हैं, श्रमणाभास हैं। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४१०-४११
२. वही, पृष्ठ ४११
३. वही, पृष्ठ ४१८

प्रवचनसार गाथा २६५-२६७

विगत गाथा में श्रमणाभास का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि **जो श्रमण सच्चे श्रमण का आदर नहीं करते अथवा स्वयं गुणहीन होने पर भी गुणवालों से विनय कराना चाहते हैं अथवा स्वयं महान होने पर भी अपने से हीन श्रमणों को वंदनादि करते हैं, वे सभी सच्चे श्रमण नहीं हैं।** गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ।।२६५।।
गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ।।२६६।।
अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ।।२६७।।

(हरिगीत)

जो श्रमणजन को देखकर विद्वेष से वर्तन करें।
अपवाद उनका करें तो चारित्र उनका नष्ट हो।।२६५।।
स्वयं गुण से हीन हों पर जो गुणों से अधिक हों।
चाहे यदि उनसे नमन तो अनंतसंसारी हैं वे।।२६६।।
जो स्वयं गुणवान हों पर हीन को वंदन करें।
दृगमोह में उपयुक्त वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।।२६७।।

जो श्रमण शासनस्थ अर्थात् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण को देखकर द्वेष से उनका अपवाद करता है और सत्कारादि क्रियाओं से सहमत नहीं होता; उस श्रमण का भी चारित्र नष्ट हो जाता है। गुणों में हीन होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' ह्न ऐसा मानकर जो श्रमण गुणवालों से नमस्कार करवाना चाहता है; वह श्रमण अनंत संसारी है।

स्वयं अधिक गुणवाला होने पर भी अन्य गुणहीनों को वंदनादि

करते हैं; वे भी मिथ्योपयुक्त होने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो श्रमण द्वेष के कारण आगमानुसार आचरणवाले ज्ञानी श्रमण का भी अपवाद करता है और उसके प्रति विनयादि क्रियायें करने में सम्मत नहीं होता; कषायानुरंजित होने से उस श्रमण का चारित्र नष्ट हो जाता है।

स्वयं जघन्यगुणवाला होने पर भी जो श्रमण 'मैं भी श्रमण हूँ' ह्न इसप्रकार के अभिमान के कारण अधिक गुणवाले श्रमणों से विनय चाहता है; वह श्रमण अभिमान के कारण कदाचित् अनंत संसारी भी हो सकता है।

जो स्वयं गुणवान होने पर भी अन्य गुणहीन श्रमणों की वंदनादि करते हैं, वे श्रमण मोह के कारण मिथ्याभावों में युक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।''

इन गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी २ इकतीसा सवैया और १ कवित्त में तथा कविवर वृन्दावनदासजी २ मत्तगयन्द सवैया, १ द्रुमिला और १ दोहा ह्न इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(मत्तगयन्द)

श्री जिनशासन के अनुसार, प्रवर्ततु हैं जे महामुनिराई।
जो तिनको लखि दोष धरैं, अनआदर तैं अपवाद कराई।।
जे विनयादि क्रिया कही वृन्द, करै न तहां सो सुहर्ष बढ़ाई।
सो मुनि चारित भ्रष्ट कहावत, यों भगवंत भनी सुनि भाई।।५२।।

जो महामुनिराज जिनशासन के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं; उन्हें देखकर भी जो मुनि उनका अनादर करते हैं, अपवाद करते हैं, प्रसन्नतापूर्वक विनयादि क्रिया नहीं करते हैं; वे मुनि चारित्र भ्रष्ट कहे जाते हैं। हे भाई ! सुनो, अरहंत भगवान ऐसा कहते हैं।

(द्रुमिला)

अपने गुन तैं अधिक जे मुनी, गुन ज्ञान सु संजम आदि भरै।
तिनसों अपनी विनयादि चहै, हम हू मुनि हैं इमि गर्व धरै।।
तब सो गुनधारक होय तऊ, मुनि मारग तैं विपरीत चरै।
वह मूढ़ अनन्त भवावलि में, भटकै न कभी भवसिंधु तरै।।५३।।

जो मुनिराज गुणों में अपने से अधिक हैं, ज्ञान और संयम से भरित हैं; 'हम भी मुनिराज हैं' ह्न इस अभिमान में चूर जो मुनि उनसे भी विनयादि की चाह रखते हैं; वे कितने ही गुणों के धारक क्यों न हों, पर मुनिमार्ग से विपरीत आचरण करनेवाले हैं। वे संसार-समुद्र से कभी पार को प्राप्त नहीं करेंगे, अनन्तकाल तक संसार में ही भटकेंगे।

(मत्तगयन्द)

आपु विषैं मुनि के पद के गुन, हैं अधिके उतकिष्ट प्रमानै।
सो गुनहीन मुनीनन की, जो करै विनयादि क्रिया मनमानै।।
तो तिनके उरमाहिं मिथ्यात, पयोग लसै लखि लेहु सयानै।
है यह चरितभ्रष्ट मुनी, अनरीति चलै जतिरीति न जानै।।५४।।

यद्यपि अपने में मुनिपद के उत्कृष्ट और अधिक गुण हैं, तथापि गुणहीन मुनियों की विनयादि क्रिया करते हैं; उनके हृदय में मिथ्यात्व भाव है। हे चतुर मुनिजनों ! इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि वे चारित्र भ्रष्ट हैं, जग की रीति को न जानते हुए अनरीत (विपरीत मार्ग) पर चलने वाले हैं।

(दोहा)

विनय भगत तो उचित है, बड़े गुनिनि की वृन्द।
हीन गुनिनि को वंदतै, चारित होत निकंद।।५५।।

जैसी विनय व भक्ति गुणधारी बड़े मुनिराजों की किया जाना उचित है; वैसी विनय व भक्ति गुणहीन मुनिजनों की करने से चारित्र नष्ट होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो मुनिराज अन्य भावलिंगी मुनिराज के प्रति अपशब्द बोलते हैं, द्वेष करते हैं, वे मुनि चारित्र से भ्रष्ट हैं। स्वयं दोषयुक्त होनेपर भी जो दोष को दोषरूप स्वीकार नहीं करते, वे श्रद्धा से भ्रष्ट हैं।[१]

भावलिंगी मुनिराजों के प्रति कोई मुनिराज ईर्ष्याभाव रखें तो उन मुनिराजों के चारित्र में दोष आता है।[२]

यदि कोई मुनिराज भूमिका का भान न करके अन्य मुनिराजों के प्रति विनयभाव नहीं करें अथवा अपने से अधिक गुणयुक्त मुनिराजों से स्वयं की विनय कराना चाहे तो उन्हें चारित्र नहीं होता।[३]

अन्य अधिक गुणयुक्त मुनिराजों की अपेक्षा अपनी निर्मलता कम होने पर भी 'मैं मुनि हूँ' ऐसे अहंकार की इच्छा करके जो स्वयं के विनयादि की इच्छा करता है, उसे अपनी भूमिका एवं पर्याय का विवेक नहीं है; अतः वह चारित्रभ्रष्ट है तथा यदि वह मुनिराज अपने सर्वथा विवेक को ही भूल जाए तो दर्शन से भी भ्रष्ट है। अनंतसंसारी है।[४]

जो मुनिराज अधिक गर्व रखते हैं और अधिक निर्मलतायुक्त मुनियों से अपने विनय आदि की भावना करते हैं, उन्हें वस्तुस्वभाव एवं धर्मात्मा जीवों के प्रति अनादर है। वे मुनिराज शास्त्रों का अध्ययन करते हों, व्रत-तपादि का पालन करते हों फिर भी अनंतसंसारी हैं।[५]

जो मुनिराज अधिक गुणयुक्त होने पर भी अपने से हीन मुनियों का आदर-सत्कारादि करते हैं, वे निजस्वरूप की सावधानी से चूक जाते हैं। पर्याय का विवेक भूलकर मिथ्याभाव में जुड़ते हैं और चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।[६]

अधिक गुणवाले मुनिराजों को अपने से कम गुणवाले मुनिराजों की वंदनादि नहीं करना चाहिए; तथापि कोई मुनिराज मोह के वशीभूत होकर निम्न दशावाले को प्रसन्न करने के लिए वन्दनादि करें तो वह चारित्र से भ्रष्ट है।[७]''

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४२७
२. वही, पृष्ठ ४२८ ३. वही, पृष्ठ ४३०-४३१ ४. वही, पृष्ठ ४३१
५. वही, पृष्ठ ४३२ ६. वही, पृष्ठ ४३४ ७. वही, पृष्ठ ४३४

उक्त गाथाओं में वर्णित विषयवस्तु के संदर्भ में यह आशंका होना स्वाभाविक ही है कि क्या यह कथन अत्यन्त कठोर नहीं है? जरा सी भूल के कारण उन्हें भ्रष्ट कहना, अनंत संसारी कहना कहाँ तक ठीक है ?

अरे भाई! किसी भी भूल में भूलसुधार की गुंजाइश तो सदा ही रहती है। इसप्रकार की आशंका आचार्य जयसेन के हृदय में भी उत्पन्न हुई होगी। यही कारण है कि इन गाथाओं की टीका में वे स्वयं ही उक्त आशंकाओं का निरसन करते हुए लिखते हैं ह्न

''यद्यपि यह बात तो स्पष्ट ही है कि रत्नत्रय मार्ग में स्थित मुनिराज को देखकर यदि कोई मुनि कदाचित् मात्सर्यवश दोष ग्रहण करता है, तो वह चारित्र से भ्रष्ट होता है; तथापि बाद में यदि वह आत्मनिंदा करके दोष ग्रहण से निवृत्त हो जाता है, अपवाद करना छोड़ देता है तो दोष नहीं है; यदि कुछ समय बाद छोड़ता है तो भी दोष नहीं है।

हाँ, यदि वह वहाँ ही अनुबंध कर तीव्र कषाय के कारण अतिप्रसंग करता है, बार-बार वही करता है तो फिर चारित्र से भ्रष्ट होता ही है।''

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए इसके आगे वे लिखते हैं ह्न

''इसका भाव यह है कि बहुश्रुतों को अल्पश्रुत तपस्वी मुनियों का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए; अल्पश्रुतमुनियों को भी कुछ भी पाठ मात्र ग्रहण कर, बहुश्रुत मुनियों का दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए; किन्तु सारपद ग्रहण कर आत्मभावना ही करना चाहिए; क्योंकि राग-द्वेष की उत्पत्ति होने पर बहुश्रुतों को श्रुत का फल नहीं मिलता और तपस्वियों को तप का फल नहीं मिलता। अत: परस्पर दोष ग्रहण करना ठीक नहीं है।''

उक्त स्पष्टीकरण २६५वीं गाथा के संदर्भ में दिया गया है। ऐसा ही स्पष्टीकरण वे २६६वीं व २६७वीं गाथाओं के संदर्भ में भी देते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''यदि पहले अभिमान के कारण अधिक गुणवालों से विनय की इच्छा करता है; परन्तु बाद में विवेक के बल से आत्मनिंदा करता है तो अनंत संसारी नहीं होता। हाँ, यदि मिथ्याभिमान से प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिए दुराग्रह करता है तो फिर अनंत संसारी होता ही है। अथवा यदि

कुछ समय बाद भी आत्मनिंदा करता है तो भी अनंत संसारी नहीं होता।

स्वयं चारित्र गुण में अधिक हों; फिर भी यदि ज्ञानादि गुणों की वृद्धि के लिए बहुश्रुतों की वंदनादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं तो दोष नहीं है; परन्तु यदि मात्र प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के लिए वन्दनादि करते हैं तो अतिप्रसंग से दोष होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि वन्दनादि क्रियाओं या तत्त्वविचार आदि में भी जहाँ राग-द्वेष होते हैं; वहाँ सभी जगह दोष ही दोष हैं। यदि कोई कहे कि यह तो आपकी कल्पना है, आगम में तो कहीं ऐसा है नहीं।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, सभी आगम राग-द्वेष को दूर करने के लिए ही है; किन्तु जो मुनिराज उत्सर्ग-अपवादरूप से आगम संबंधी नय विभाग को नहीं जानते, वे ही राग-द्वेष करते हैं, अन्य कोई नहीं।''

आचार्य जयसेन बात तो वही कहते हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र ने कही है; पर वे यह भी कहते हैं कि भूलसुधार की गुंजाइश तो सर्वत्र ही होती है। ऐसा कैसे हो सकता है कि एक समय की भूल का फल अनंत काल तक भोगना पड़े ?

जबतक भूल में है, तबतक तो उसका फल भोगना ही होगा; किन्तु जब भूल मिट जाये तो फिर कल्याण होना भी सुनिश्चित ही है; क्योंकि सभी जीव अनादि से तो भूल में ही हैं; पर अनेक जीव भूल मेट कर सिद्ध अवस्था भी प्राप्त करते रहे हैं और करते रहेंगे। मारीचि और राजा श्रेणिक जैसे लोग इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मारीचि तो भगवान महावीर बनकर मुक्ति प्राप्त कर ही चुके हैं और राजा श्रेणिक भी निकट भविष्य में ही महापद्म तीर्थंकर पद प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले हैं।

यहाँ तो मात्र तत्काल या कुछ समय बाद भूल सुधारने की बात कही है; परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि यह जीव अनंतकाल के बाद भी अपनी भूल सुधार कर कर्मों से मुक्त हो सकता है। अत: भूल तो जितनी जल्दी सुधर जाय, उतना ही अच्छा है। यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसका उद्देश्य तो भूल न करने और कदाचित् भूल हो जाय तो जल्दी से जल्दी भूलसुधार कर लेने की प्रेरणा देना ही है। ●

प्रवचनसार गाथा २६८-२६९

विगत गाथाओं में श्रमणचर्या और परस्पर व्यवहार की चर्चा करने के उपरान्त अब **असत्संग अर्थात् लौकिकजनों के संग का निषेध करते हुए लौकिकजनों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।** गाथायें मूलत: इसप्रकार हैंह्न

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।।२६८।।
णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि।।२६९।।

(हरिगीत)

सूत्रार्थविद जितकषायी अर तपस्वी हैं किन्तु यदि।
लौकिकजनों की संगति न तजे तो संयत नहीं।।२६८।।
निर्ग्रन्थ हों तपयुक्त संयमयुक्त हों पर व्यस्त हों।
इहलोक के व्यवहार में तो उसे लौकिक ही कहा।।२६९।।

जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को अर्थात् ज्ञातृतत्व (आत्मा) को निश्चित किया है, कषायों का शमन किया है और जो विशेष तपस्वी हैं; यदि वह भी लौकिक जनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता है तो वह भी संयत नहीं है। जो मुनिराज निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण संयम और तप से युक्त हों, उन्हें भी इस लोक संबंधी कार्य में प्रवर्तित होने से लौकिक कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सत् लक्षणवाला सम्पूर्ण विश्व और उसका वाचक सत् लक्षणवाला शब्दब्रह्म ह्न इन दोनों के ज्ञेयाकार ज्ञातृतत्त्व में एकसाथ ज्ञात होने से, उन दोनों का अधिष्ठानभूत सत् लक्षणवाले ज्ञातृतत्त्व का निश्चय किया होने से, जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को निश्चित किया है; निरुपराग

उपयोग के कारण जिसने कषायों को शमित किया है और निष्कंप उपयोग का बहुश: अभ्यास करने से अधिक तपवाला ह्न इन तीन कारणों से जो मुनिराज भलीभांति संयत हों; वे भी लौकिकजनों के संयोग से असंयत ही होते हैं; क्योंकि जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी में विकार होता है; उसीप्रकार लौकिकजनों की संगति से श्रमणों में विकार अवश्यंभावी है।

इसलिए लौकिक सम्पर्क पूर्णत: निषेध करने योग्य ही है।

परमनिर्ग्रन्थरूप दीक्षा ली होने से संयम और तप के भार को वहन करनेवाले श्रमण भी यदि मोह की बहुलता से शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार के द्वारा चक्कर खाने से लौकिक कर्मों से निवृत्त न हो तो उन्हें भी लौकिक ही कहा जाता है।''

आचार्य जयसेन तो तात्पर्यवृत्ति में लिखते हैं कि स्वयं आत्मा की भावना करनेवाला होने पर भी यदि असंयमी जनों का संग नहीं छोड़ता है तो अग्नि की संगति में रहनेवाले जल के समान अति परिचय से रागादिभावरूप विकृत भावों को प्राप्त होता है।

वे लौकिकजन की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि भेदाभेद रत्नत्रय को नष्ट करनेवाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैद्यसंबंधी आदि इस लोकसंबंधी जीवन के उपायभूत कार्य करनेवाला साधु भी लौकिकजन ही हैं।

इन गाथाओं के भाव को पंडित देवीदासजी २ छप्पय और कविवर वृन्दावनदासजी १ कवित्त, १ द्रुमिल और ५ दोहे ह्न इसप्रकार कुल ७ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत कतिपय छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(कवित्त)

जद्दिप जिनसिद्धांत सूत्रकरि, जानत है निहचै सब वस्त।
अरु कषाय उपशमकरि जो मुनि, करत तपस्या अधिक प्रशस्त।।
जो न तजै लौकिक जनसंगति, तो न होय वह मुनि परशस्त।
संगरंगतैं भंग होय व्रत, यातैं तजिय कुसंगत रस्त।।५६।।

यद्यपि जिनागम के अध्ययन से समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानते हों और कषायों के उपशम से प्रशस्त तपश्चर्या भी करते हों; तथापि यदि लौकिकजनों की संगति नहीं छोड़ते हैं तो वे मुनिराज प्रशस्त मुनिराज नहीं रहते; क्योंकि लौकिकजनों की संगति के रंग से उनके व्रत भंग हो जाते हैं; इसलिए कुसंगति का रास्ता छोड़ ही देना चाहिए।

(द्रुमिला)

निरग्रंथ महाव्रतधारक हो करि, जो इहि भाँति करै करनी।
वरतै इस लौकिक रीति विषैं, करै वैदक जोतिक मंतरनी।।
वह लौकिक नाम मुनी कहिये, परिभ्रष्ट दशा तिसकी वरनी।
तपसंजमसंजुत होय तऊ, न तरै भवसागर दुस्तरनी।।६०।।

महाव्रतों के धारी निर्ग्रन्थ होने पर भी जो मुनिराज लौकिक रीति से वर्तते हैं; ज्योतिष, वैद्यक और तंत्र-मंत्र आदि की करनी करते हैं; उन मुनिराजों को लौकिक मुनि या लौकिकजन कहते हैं। तप और संयम से युक्त होने पर भी वे भ्रष्ट मुनि संसार-समुद्र से पार नहीं होते।

स्वामीजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिन मुनिराजों ने वीतरागतापूर्वक पदार्थों और नवतत्त्वों का यथार्थ निश्चय किया है, क्रोध-मान-माया-लोभादि के परिणाम घटाये हैं और जो मुनिदशा में अधिक हैं, फिर भी लौकिकजनों के प्रति राग तथा उनका संसर्ग नहीं छोड़ते, वे मुनि नहीं हैं।

लौकिकजन मुनिराज को चारित्र से भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु लौकिक जनों का समागम करके वे मुनिराज स्वयं अपना भावचरित्र नष्ट करते हैं।[१]

अन्तर्दशा की अधिकता होने पर भी यदि मुनिराज लौकिकजनों का परिचय करें तो उनको संयमपना नहीं रहता।

जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी विकाररूप उष्णता को प्राप्त होता है; उसीप्रकार लौकिकजनों के संग से मुनिराज चारित्रभ्रष्टरूप विकार को प्राप्त होते हैं; अतः लौकिकजनों के संग का निषेध है।[२]

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४३६ २. वही, पृष्ठ ४४०

ज्योतिष, मंत्र-तंत्रादि या स्वयं के मानपोषण के लिये लौकिकजनों का संग करना मुनियोग्य आचरण नहीं है।[१]

जो मुनि मोह के वशीभूत होकर ख्याति, लाभ, पूजा, निमित्त, ज्योतिष, मंत्रादि में लीन रहते हैं, वे मुनि होनेपर भी सामान्य व्यक्ति हैं।

मुनिराज परम वीतरागीदशा को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा लेकर संयम और तपादि में लीन हुये हैं, किन्तु जो मुनिराज अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न निर्मलता का आश्रय छोड़कर, स्वरूप सावधानी को भूलकर, निरंतर मनुष्य व्यवहाररूप पूजा, ख्याति, लाभ आदि कार्यों में लीन रहते हैं, वे मुनि न होकर लौकिकजन हैं। सांसारिक कार्य अर्थात् ज्योतिष सीखकर ज्योतिषी बनना, मंत्र-तंत्र को सिद्ध करना, वचनसिद्धि करना, राजा को मंत्रादि सिखाना, जिससे स्वयं मान पुष्ट हो, सर्प-बिच्छु के विष दूर करने संबंधी मंत्र सीखना आदि सब कार्य मुनियोग्य नहीं हैं।

साधु होनेपर भी रोग का उपचारादि बतावें। यह कार्य करोगे तो ठीक रहेगा आदि क्रिया का उपदेश देवें तो ये सब कार्य लौकिक हैं। मुनिराज अपने स्व-स्वभाव में लीनता नहीं कर सकें तो शुभभाव में आते हैं, किन्तु ख्याति-पूजा आदि अशुभभावों में जुड़ें तो वह लौकिकजन कहलाते हैं, मुनि नहीं।[२]''

इन गाथाओं में लौकिकजनों से सम्पर्क बढाने का बड़ी ही कठोरता से निषेध किया गया है; क्योंकि लौकिकजनों का समागम आत्मसाधना में बाधक ही है, साधक नहीं। यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि भले ही जिनागम का ज्ञाता हो, मंदकषायी हो, तपस्वी हो; पर यदि वह श्रमण लौकिक लोगों का संसर्ग नहीं छोड़ता है तो वह असंयमी ही है।

यहाँ लौकिकजनों का स्वरूप भी बताया गया है। लौकिकजन तो लौकिक हैं ही; किन्तु वे साधु भी लौकिकजनों में ही आते हैं; जो प्रसिद्धि, पूजा, लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष से भविष्य आदि बताते हैं, मंत्र-तंत्र करते हैं और लौकिक जीवन के उपाय बताते हैं। आत्मा का कल्याण चाहनेवाले श्रमणों को उनका समागम नहीं करना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४४१ २. वही, पृष्ठ ४४२-४४३

प्रवचनसार गाथा २७०

विगत गाथाओं में असत्संग का निषेध करके अब इस गाथा में एकमात्र **सत्संग ही करने योग्य है ह्न ऐसा दिखाते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।२७०।।

(हरिगीत)

यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो।
गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो।।२७०।।

इसलिए यदि दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो हे श्रमणो ! समान गुणवाले अथवा अधिक गुणवाले श्रमणों के संग सदा निवास करो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा परिणाम स्वभाववाला है; इसलिए अग्नि के संग में रहते हुए पानी के समान संयमी श्रमण भी लौकिकजनों के संग से असंयमी हो जाता है। इसलिए दु:खों से मुक्ति चाहने वाले श्रमणों को समान गुणवाले श्रमणों के साथ अथवा अधिक गुणवाले श्रमणों के साथ सदा निवास करना चाहिए।

इसप्रकार शीतलघर के कोने में रखे हुए शीतल जल की भाँति समान गुणवालों की संगति से गुणों की रक्षा होती है और अधिक शीतल बर्फ के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी के समान अधिक गुणवालों की संगति करने से गुणों में वृद्धि होती है।''

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के भावों को ही प्रस्तुत कर देते हैं।

इसीप्रकार पंडित देवीदासजी भी गाथा व टीका के भाव को १

छप्पय छन्द में उसी रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को अत्यधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करते हैं। इसमें वे २६ छन्दों का प्रयोग करते हैं। आरंभिक छन्दों में गाथा और टीका के भाव को विस्तार से सोदाहरण समझाते हैं; तदुपरान्त सत्संग की महिमा बखान करते हुए दोहों की झड़ी लगा देते हैं।

उनमें से कतिपय दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

ज्यों पारस संजोग तैं, लोह कनक ह्वै जाय।
गरल अमिय सम गुन धरत, उत्तम संगति पाय।।७१।।
जैसे लोहा काठ संग, पहुँचे सागर पार।
तैसे अधिक गुनीनि संग, गुन लहि तजहि विकार।।७२।।
ज्यों मलयगिरि के विषैं, बावन चंदन जान।
परसि पौन तसु और तरु, चन्दन होंहि मान।।७३।।
त्यों सतसंगति जोग तैं, मिटैं सकल अपराध।
सुगुन पाय शिवमग चलै, पावै पद निरुपाध।।७४।।

जिसप्रकार पारस पत्थर के संयोग से लोहा सोना हो जाता है; उसीप्रकार उत्तम संगति पाकर विष भी अमृत के समान गुण धारण कर लेता है।

जिसप्रकार लोहा काष्ठ की संगति पाकर सागर को पार कर लेता है; उसीप्रकार अधिक गुणवालों की संगति से गुण प्रगट होते हैं और विकार नष्ट हो जाते हैं।

जिसप्रकार मलयागिरि पर्वत पर बावन चंदन होता है; उससे स्पर्श करती हुई वायु की संगति से अन्य वृक्ष भी चंदन के समान सुगंधित हो जाते हैं।

उसीप्रकार सत्संगति के योग से सम्पूर्ण अपराध मिट जाते हैं; सुगुन प्रगट हो जाते हैं और मुक्तिमार्ग में चलकर मुनिराज मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

इसके बाद श्रावकों को संबोधित करते हुए कहते हैं ह्न

(दोहा)

यों मत चित में जानियौ, मुनि कहँ यह उपदेश।
श्रावक को तो नहिं कह्यौ, मूल ग्रंथ में लेश।।८०।।
मुनि के मिष सबको कह्यौ, न्याय रीति निरबाह।
जिहि मग में नृप पग धरै, प्रजा चलै तिहि राह।।८१।।
ऐसो जानि हिये सदा, जिन आगम अनुकूल।
करो आचरन हे भविक, करम जलैं ज्यों तूल।।८२।।

चूंकि मूल ग्रन्थ में तो यह कहीं नहीं कहा है कि यह उपदेश श्रावकों के लिए भी है। इसलिए हे श्रावकजनो ! तुम यह मत समझना कि यह सब उपदेश मुनियों के लिए ही है। मुनियों के बहाने यह न्याय और रीति-नीति का उपदेश सभी को दिया गया है। जिसप्रकार जिस रास्ते पर राजा चलता है, प्रजा भी उसी रास्ते पर चलने लगती है। उसीप्रकार मुनियों के समान ही श्रावकों को भी सत्संगति में रहना ही श्रेयस्कर है।

ऐसा जानकर, इस बात को हृदय में धारण कर सदा ही सभी को जिनागम के अनुकूल आचरण करना चाहिए। ऐसा करने से आग के सम्पर्क में आई हुई रुई के समान कर्म भी क्षण भर में भस्म हो जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार अग्नि के संग में आया हुआ पानी विकार अर्थात् उष्णता को प्राप्त करता है। अग्नि ने पानी को गरम नहीं किया, किन्तु पानी स्वयं अग्नि का संग करें तो उष्णता को प्राप्त होता है। उसीप्रकार मुनिराज लौकिकजन अर्थात् राजा, सेठ, ज्योतिषी, मंत्र-तंत्र जाननेवालों का समागम करें तो असंयमी होते हैं।

लौकिक जन मुनिराज को भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु लौकिकजनों के साथ समागम करनेरूप स्वयं का भाव मुनिराज को संयमीदशा से च्युत

करता है। मुनिराज जब स्वरूप में नहीं ठहर सकते, तब उन्हें अवश्य ही शुभोपयोग में रहना चाहिए, किन्तु अशुभभावों में नहीं।[१]

जिसप्रकार ठंडी जगह रखा हुआ पानी शीतलता को प्राप्त करता है तथा शीतल गुणयुक्त बर्फ का संयोग मिलने पर वह जल और भी शीतल हो जाता है, उसीप्रकार अपने समान गुणयुक्त मुनियों के संग से मुनिराज के गुणों की रक्षा होती है और अपने से अधिक गुणयुक्त मुनियों के संग से श्रमण के गुणों में वृद्धि होती है।[२]''

शुभोपयोगाधिकार की इस अन्तिम गाथा में लौकिकजनों के संसर्ग में न रहकर; जिनमें हमसे अधिक गुण हैं, उनकी संगति में रहने की बात कही गई है। यदि अधिक गुणवालों का समागम संभव न हो तो समान गुणवालों की संगति में रहना चाहिए। जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी गर्म हो जाता है; उसीप्रकार लौकिकजनों के संसर्ग से संयमी भी असंयमी हो जाते हैं।

सत्संगति का लाभ बताते हुए आचार्यदेव टीका में तीन उदाहरण देते हैं। प्रथम अग्नि के संयोग में रखे हुए जल का, दूसरा शीतल घर के कोने में रखे हुए घड़े का और तीसरा बर्फ के संसर्ग में रखे हुए घड़े का।

जिसप्रकार अग्नि के संयोग में रहनेवाला जल गर्म हो जाता है; उसीप्रकार लौकिकजनों के संसर्ग से श्रमण असंयमी हो जाते हैं।

जिसप्रकार शीतल घर के कोने में रखे हुए घड़े के ठंडे जल की रक्षा होती है, वह गर्म नहीं हो पाता; उसीप्रकार समान गुणवालों का संगति से अपने सद्गुणों की रक्षा होती है और जिसप्रकार बर्फ की संगति में रखे हुए घड़े का जल अधिक शीतल हो जाता है; उसीप्रकार अधिक गुणवालों की संगति से हमारे गुणों में वृद्धि होती है।

इसलिए श्रमणों को सदा ही या तो अधिक गुणवालों की संगति में रहना चाहिए या फिर समान गुणवालों की संगति में रहना चाहिए।

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४४६ २. वही, पृष्ठ ४४७

यद्यपि यह सम्पूर्ण कथन श्रमणों के लिए ही किया गया है; तथापि श्रावकों को भी इसका लाभ लेना चाहिए।

इसके उपरांत इस अधिकार का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में एक छंद लिखते हैं; जिसका पद्यानुवाद इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यति:
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्तारम्योदयां
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्तत: शाश्वतीम्।।१७।।

(मनहरण)

इसप्रकार शुभ उपयोगमयी किंचित् ही।
शुभरूप वृत्ति का सुसेवन करके।।
सम्यक्प्रकार से संयम के सौष्टव से।
आप ही क्रमशर निरवृत्ति करके।।
अरे ज्ञानसूर्य का है अनुपम जो उदय।
सब वस्तुओं को मात्र लीला में ही लख लो।।
ऐसी ज्ञानानन्दमयी दशा एकान्ततः।
अपने में आप ही नित अनुभव करो।।१७।।

इसप्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्ति का सेवन करके यति सम्यक्त्व सहित संयम के सौष्ठव से क्रमश: परमनिवृत्ति को प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीलामात्र में प्राप्त हो जाता है, जान लेता है; हे मुनिवरो! ऐसी शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावी दशा का एकान्तत: अपने में आप ही नित्य अनुभव करो।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुभोपयोगी मुनिराज सम्यक्प्रकार से आराधना करते हुए परम

वीतरागी दशा को प्राप्त करते हैं। मुनिराज को शुभोपयोग की मंद और शुद्धोपयोग की मुख्य प्रवृत्ति है।

मुनिराज शुभप्रवृत्ति के कारण वीतरागदशा को प्राप्त नहीं करते। शुभोपयोग उनके लिये आदरणीय नहीं है, क्योंकि वह पुण्य है; किन्तु जब स्वभावस्थिरता नहीं होती, तब उन्हें शुभपरिणाम आते हैं।

शुभ का सेवन करने पर वीतरागदशा प्राप्त होती है ह्न यह कथन उपचारवश किया गया है।

अरे भाई! वीतरागदशा शुभस्वभाव के कारण नहीं; अपितु शुद्धस्वभाव के कारण प्राप्त होती है, किन्तु यह शुभोपयोग अधिकार है; अतः शुभोपयोग पर आरोप किया गया है।

वे मुनिराज क्रम-क्रम से वीतरागदशा को पाकर सर्वज्ञदशा को प्रगट करते हैं। आत्मस्वरूप में शाश्वत विद्यमान ज्ञानानन्दमयी मोक्षदशा का एकांत अनुभव ही यथार्थ अनुभव है। अन्य कोई अनुभव करने योग्य नहीं है।[१]''

अधिकार के अन्त में आचार्यदेव आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणा देते हुए यह कहते हैं कि भले ही भूमिकागत कमजोरी के कारण कुछ काल शुभोपयोग में जावे; फिर भी सम्यग्दर्शन सहित संयम के बल से इन शुभभावों से भी परम निवृत्ति को प्राप्त कर श्रमण जन लीलामात्र में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए श्रमणजनो ! ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव अपने आत्मा में अपनापन करो; उसमें ही समा जावो।

इसप्रकार चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक महाधिकार में समागत शुभोपयोगप्रज्ञापनाधिकार समाप्त होता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४४९

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं। **ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१२९**

पंचरत्न अधिकार

(गाथा २७१ से गाथा २७५ तक)

मंगलाचरण

(दोहा)

भावलिंग के बिना यह द्रव्यलिंग संसार।
द्रव्य भाव दोनों मिले मुक्ति मुक्ति का द्वार॥

इसप्रकार शुभोपयोग अधिकार के समाप्त हो जाने के बाद **शेष पाँच गाथाओं के समूह को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में पंचरत्न नाम से अभिहित करते हैं।**

उक्त पंचरत्न गाथाओं को आरंभ करने के पहले आचार्य अमृतचन्द्र-देव मंगलाचरण के रूप में एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-
द्वैतीयीकमथार्हतो भगवत: संक्षेपत: शासनम्।
व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं
जीयात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिभै: पञ्चभि: ॥१८॥

(मनहरण)

अब इस शास्त्र के मुकुटमणि के समान।
पाँच सूत्र निरमल पंचरत्न गाये हैं॥
जो जिनदेव अरहंत भगवन्त के।
अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशें हैं॥
अद्भुत पंचरत्न भिन्न-भिन्न पंथवाली।
भव-अपवर्ग की व्यतिरेकी दशा को॥
तप्त-संतप्त इस जगत के सामने।
प्रगटित करते हुये जयवंत वर्तो॥१८॥

अब इस शास्त्र के कलगी के अलंकार के समान अर्थात् चूड़ामणि (मुकुटमणि) के समान यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंचरत्न, जो अरहंत भगवान के अद्वितीय समग्र शासन को संक्षेप में सम्पूर्णत: प्रकाशित करते हैं; वे पंचरत्न विलक्षण पंथवाली संसार व मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हुए जयवंत वर्तो।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अब, इस शास्त्र की कलगी अर्थात् मस्तक पर शोभित चूड़ामणी के समान निर्मल रत्नरूपी पाँच सूत्र कहते हैं। इन पाँच सूत्रों में समग्र जैनशासन का सार संक्षेप में समाहित है।

ये बेजोड़ गाथायें जैनशासन का प्रकाशस्तंभ हैं, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी संसार और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग की प्रकाशक हैं।

जिस मार्ग से संसार की प्राप्ति हो, उस मार्ग से मोक्ष नहीं होता और जिस मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति होती हो, उस मार्ग से संसार नहीं बढता ह्न इसप्रकार इस प्रकरण में दोनों ही विलक्षण पंथों का स्पष्टीकरण किया गया है।

अब, संसार-मोक्ष की स्थिति को पाँच सूत्रों के माध्यम से प्रकाशित करते हैं; अतः संसार-मोक्ष की स्थिति प्रगट करनेवाली ये गाथायें जयवंत वर्ते।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस मंगलाचरण के छन्द में आगामी पाँच गाथाओं को पंचरत्न नाम से अभिहित किया गया है और उन्हें कलगी के अलंकार के समान सम्पूर्ण प्रवचनसार का चूड़ामणि बताया गया है तथा यह कहा गया है कि इन पाँच गाथाओं में पूरे प्रवचनसार का सार समाहित है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४४९

प्रवचनसार गाथा २७१

इस गाथा में संसारतत्त्व के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं।।२७१।।

(हरिगीत)

अयथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में।
कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में।।२७१।।

भले ही वे द्रव्यलिंगी मुनिराज जिनशासन में ही क्यों न हों; तथापि वे 'तत्त्व यह है' ह्न इसप्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थ (गलत) रूप में ग्रहण करते हैं; अत: वे अनन्त कर्मफलों से भरे हुए चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करेंगे।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैंह्न

''जो द्रव्यलिंगी श्रमण स्वयं के अविवेक से पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा ही जानकर, स्वीकार कर 'तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूप ऐसा ही है' ह्न ऐसा निश्चय करते हुए; निरन्तर एकत्रित किये जानेवाले महामोहमल से मलिन चित्तवाले होने से नित्य ही अज्ञानी रहते हैं; वे भले ही जिनमार्ग में स्थित हों; तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वस्तुत: श्रमणाभास ही हैं। अनंत कर्मफल के उपभोग के भार से भयंकर अनन्तकालतक अनन्त भवान्तररूप परावर्तनों से अस्थिर वृत्तिवाले रहने से उन द्रव्यलिंगी मुनिराजों को संसारतत्त्व जानना।''

इस गाथा के भाव को आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

पंडित देवीदासजी इस गाथा के भाव को एक छन्द में हूबहू प्रस्तुत

कर देते हैं; पर कविवर वृन्दावनदासजी १ छप्पय और ४ दोहे ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर ५ छन्दों में विस्तार से प्रस्तुत करते हैं।

उनमें से कुछ दोहे इसप्रकार हैं ह्न

(दोहा)

जद्दिप मुनिमुद्रा धरैं, तद्दिप मुनि नहिं सोय।
सोई संसृत तत्त्व है, इहाँ न संशय कोय।।९७।।
ताको फल परिपूर्ण दुख, पंच परावृतरूप।
भमै अनन्ते काल जग, यों भाषी जिनभूप।।९८।।
और कोइ संसार नहिं, संसृत मिथ्याभाव।
जिन जीवनि के होय सो, संसृततत्त्व कहाव।।९९।।

द्रव्यलिंगी मुनि यद्यपि मुनिभेष में रहते हैं; तथापि वे सच्चे मुनि नहीं हैं। वस्तुत: वे ही संसार तत्त्व हैं। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है।

इसका फल परिपूर्ण दु:ख है। ऐसे जीव पंचपरावर्तनरूप संसार में अनन्त काल तक भटकते रहते हैं। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

मिथ्याभाव ही संसार है। इसके अतिरिक्त संसार कुछ भी नहीं है। जिन जीवों के यह मिथ्याभाव रहता है; वे संसारतत्त्व कहे जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अज्ञानी जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर मुनि हुआ हो, हजारों रानियों को छोड़कर पाँच महाव्रतादि का पालन करता हो; तथापि परपदार्थ और पुण्य से धर्म माननेवाली पराधीन दृष्टि के कारण परमार्थ श्रमणता को प्राप्त नहीं करता; अतः वह वास्तव में श्रमणाभास है।[१]

एक चैतन्यस्वभाव की रुचि करने पर निमित्त की रुचि छूटती है, पुण्य की रुचि छूटती है, अधूरापन भी छूटता है ह्न यही एकमात्र यथार्थ उपाय है। अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर होने से वह चाहे जो क्रिया करें, किन्तु वह श्रमणाभास है।[२]

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४५५ ४. वही, पृष्ठ ४५५

मिथ्यादृष्टि जीव भले ही द्रव्यलिंग धारण करें, फिर भी अन्तर विद्यमान मिथ्याभावों के कारण वे अनंतकाल भिन्न-भिन्न भावरूप से परिवर्तन करते हुये अस्थिर परिणतिवाले ही रहेंगे और इसीलिये वे संसारतत्त्व हैं।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय उसके स्वकाल में स्वतंत्ररूप से न मानकर निमित्त होने पर होगी ह्न ऐसी मान्यता होने से उसे चैतन्य की रुचि नहीं है; चैतन्य के विरुद्ध शुभाशुभ भावों की रुचि है। ऐसा जीव प्रतिसमय शुभ-अशुभ में ही उलझा रहता है। किसी भव में हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव करता है, किसी भव में दिगम्बर मुनि होकर पाँच महाव्रतादि का पालन करते हुए तपादि करता है तो किसी भव में बड़ा कसाई बनकर प्राणियों का घात करता है ह्न इसप्रकार अनेक भवांतररूप संसार में ही परावर्तन करता रहता है।[१]

द्रव्यलिंगी मुनि उत्कृष्ट तप और वैराग्य से युक्त होने पर भी तत्त्व को अतत्त्व मानने के कारण संसारतत्त्व ही हैं, उसी में अग्रसर हैं। निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव तत्त्व का यथार्थ स्वरूप न मानकर कुतर्क करते हैं, वे सब संसारतत्त्व हैं।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित होकर भी जिन्होंने नग्न दिगम्बर वेष धारण कर लिया है ह्न ऐसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि ही वस्तुत: संसार हैं, संसारतत्त्व हैं। मुनिधर्म को बदनाम करनेवाले ऐसे वेषधारी श्रमण अपरिमित काल तक संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४५६ २. वही, पृष्ठ ४५७

स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है, किन्तु तत्त्वमंथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३५

प्रवचनसार गाथा २७२

विगत गाथा में संसारतत्त्व का स्वरूप स्पष्ट कर अब इस गाथा में **मोक्षतत्त्व का स्वरूप समझाते हैं।** गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।

(हरिगीत)

यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से।
प्रशान्तात्मा श्रमण वे ना भवभ्रमे चिरकाल तक।।२७२।।

जो श्रमण पदों और पदार्थों के निश्चयवाले होने से प्रशान्तात्मा हैं और अन्यथा आचरण से रहित हैं; सम्पूर्ण श्रामण्यवाले वे श्रमण, कर्मफल से रहित हैं और वे इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहते।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो श्रमण त्रिलोक की चूलिका के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाले होने से और पदार्थों के वास्तविक निश्चय से उत्सुकता का निवर्तन करके स्वरूप मंथर रहने से सतत् प्रशान्तात्मा तथा स्वरूप में अभिमुखरूप से विचरते होने के कारण अयत्नाचार रहित होने से नित्य ज्ञानी हैं; वे सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण मोक्षतत्त्व हैं; क्योंकि उन्होंने पूर्व के समस्त कर्मों के फल को लीलामात्र में नष्ट कर दिया है और वे नये कर्मों के फल को उत्पन्न नहीं करते; इसलिए पुन: प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त न होते हुए भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित रहते हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हुए तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुकरण करते हैं; तथापि अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि **मोक्षतत्त्वरूप परिणत पुरुष ही अभेदनय से**

मोक्षस्वरूप जानना चाहिए।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को १ छन्द में प्रस्तुत करते हैं और कविवर वृन्दावनदासजी दो छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(अनंगशेखरदंडक)

मिथ्या अचार टारि के जथार्थ तत्त्व धारि के,
विवेक दीप वारि के स्वरूप जो निहारई।
प्रशांत भाव पाय के विशुद्धता बढ़ाय पुव्व,
बंध निर्जराय के अबंध रीति धारई।।
न सो भमै भवावली तरै सोई उतावली,
सोई मुनीश को पदस्थ पूर्णता सुसारई।
यही सु मोखतत्त्व है त्रिलोक में महत्त है,
सोई दयानिधान भव्य वृन्द को उधारई।।१००।।

जो श्रमण मिथ्या आचरण को टाल कर, यथार्थ तत्त्व को धारण कर और विवेकरूपी दीपक को जलाकर स्वरूप को निहारते हैं; प्रशान्तभाव को प्राप्त कर, विशुद्धता को बढ़ाकर, पहले बंधे कर्मों की निर्जरा करके अबंध रीति को धारण करते हैं; वे श्रमण संसार अटवी में परिभ्रमण नहीं करते और शीघ्र ही पूर्णता को प्राप्त करते हैं। वे श्रमण ही साक्षात् मोक्षतत्त्व हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि तीन लोक में सर्वाधिक महान, दया के निधान वे हमारा उद्धार करें।

(दोहा)

जो परदरवनि त्यागि कै, है स्वरूप में लीन।
सोई जीवनमुक्त है, मोक्षतत्त्व परवीन।।१०१।।

जो परद्रव्यों को त्याग कर स्वरूप में लीन रहते हैं; वे ही श्रमण जीवन मुक्त हैं और वे ही प्रवीण श्रमण मोक्षतत्त्व हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मोक्षतत्त्व अर्थात् सिद्ध पर्याय नहीं लेना है, किन्तु जो मुनि स्वरूप में रमणता कर रहे हैं, शुभभाव से दूर हैं, सर्वज्ञदशा के निकटवर्ती

हैं तथा अप्रतिहत भावपूर्वक नियम से मोक्ष लेनेवाले हैं, उन मुनिराजों को मोक्षतत्त्व कहा है।[१]

यहाँ कहा है जो मुनिराज स्व में स्थित हैं, अयथाचार से रहित हैं, स्वरूप की अन्तर वीतरागता वर्तती होने से सम्पूर्ण श्रामण्य को प्राप्त हुए हैं ह्न वे मुनिराज मोक्षतत्त्व हैं।

जिन जीवों ने मोक्षदशा को प्राप्त किया है, यहाँ उनकी बात नहीं है; अपितु जो स्वरूपलीन हैं, शुभभाव में न आकर नियम से मोक्षदशा पाने के लिये प्रयासरत हैं ह्न ऐसे स्वरूपलीनता युक्त मुनिराज की चर्चा है। यहाँ, उन्हें मोक्षतत्त्व कहा है।[२] वे मुनिराज पुनः प्राणधारण करनेरूप दीनता को प्राप्त नहीं करते, अशुद्धभावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में स्थिर रहते हैं। इस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले जीव का अन्य भावरूप परावर्तन नहीं होता। वह सदा एक ही भावरूप रहता है। शुद्ध स्वभाव में स्थिर परिणतिरूप रहते हैं; अतः ऐसे जीव मोक्षतत्त्वरूप हैं।[३]

यहाँ तो स्वरूपगुप्त मुनिराजों की बात कर रहे हैं। स्वरूप में सावधान रहनेवाले और शुभभाव न करनेवाले उत्कृष्ट मुनि की बात है।[४]

वास्तव में मुनिदशा ही मोक्षतत्त्व है।[५]

शुभोपयोगी मुनि विकल्प में वर्तते हैं; अतः वे साक्षात् मोक्षतत्त्व नहीं है, वे परम्परा से मोक्षतत्त्व कहलाते हैं।[६]''

विगत गाथा से एकदम विपरीत इस गाथा में यह कहा गया है कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित निर्दोष चारित्र धारण करनेवाले भावलिंगी श्रमण ही मोक्षतत्त्व हैं और वे लीलामात्र में अष्टकर्मों का नाशकर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। इसप्रकार उक्त दोनों गाथाओं में क्रमश: मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रमणों को संसारतत्त्व और सम्यग्दृष्टि भावलिंगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व कहा गया है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४५९
२. वही, पृष्ठ ४६२
३. वही, पृष्ठ ४६४
४. वही, पृष्ठ ४६४
५. वही, पृष्ठ ४६५
६. वही, पृष्ठ ४६५

प्रवचनसार गाथा २७३

विगत गाथाओं में संसारतत्त्व व मोक्षतत्त्व का निरूपण करने के उपरान्त अब इस गाथा में **मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का उद्घाटन करते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहिरत्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा।।२७३।।

(हरिगीत)

यथार्थ जाने अर्थ को दो विध परिग्रह छोड़कर।
ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये।।२७३।।

पदार्थों को भली प्रकार जानते हुए जो श्रमण बहिरंग और अंतरंग परिग्रह को छोड़कर विषयों में आसक्त नहीं हैं; वे शुद्ध कहे गये हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सम्पूर्ण ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथावस्थित स्वरूप में प्रवीण, समस्त बहिरंग और अंतरंग संगति के परित्याग से अंतरंग में प्रकाशमान, अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्य से भास्वर आत्मतत्त्व के स्वरूप को भिन्न करनेवाले और इसीकारण आत्मतत्त्व की वृत्ति स्वरूपगुप्त व सुसुप्त समान प्रशान्त रहने से विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होनेवाले सकल महिमावान भगवान शुद्ध हैं, शुद्धोपयोगी हैं; उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना चाहिए; क्योंकि वे अनादि संसार से बंद, विकट, कर्मकपाट (कर्मरूपी किवाड़) को तोड़ने-खोलने के अति प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।''

इन गाथाओं के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ छन्द में एवं कविवर वृन्दावनदासजी २ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी कृत छन्द इसप्रकार है ह्न

(मनहरण)

सम्यक प्रकार जो पदारथ को जानतु है,
आपा पर भेद भिन्न अनेकान्त करिकै।
इन्द्रिनि के विषै मैं न पागै औ परिग्रह,
पिशाच दोनों भांति तिन्हें त्यागै धीर धरिकै।।
सहज स्वरूप में ही लीन सुखसैन मानो,
करम कपाट को उधारै जोर भरिकै।
ताही को जिनिंद मुक्त साधक बखानतु है,
सोई शुद्ध साध ताहि, वंदो भर्म हरिकै।।१०२।।

अनेकान्तपूर्वक आपापर का भेद करके जो पदार्थों को भलीभाँति जानते हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों में लीन नहीं रहते और परिग्रहरूपी पिशाच को अंतरंग और बहिरंग ह्न दोनों रूप से त्यागकर धैर्य धारण करके, जैसे सो गये हों ह्न इसप्रकार सहज स्वरूप में लीन होकर शक्तिपूर्वक कर्मरूपी किवाड़ों को उधारते हैं, तोड़ते हैं, खोलते हैं; उन श्रमणों को ही जिनेन्द्रभगवान मुक्ति के साधक कहते हैं; वे ही शुद्ध हैं, शुद्धोपयोगी हैं। सभी प्रकार के भ्रमों को दूर करके मैं उनकी वंदना करता हूँ।

(दोहा)

ऐसे सुपरविवेकजुत, लसैं शुद्ध जे साध।
मोखतत्त्वसाधक सोई, वर्जित सकल उपाध।।१०३।।

जो साधु इसप्रकार के विवेक से युक्त है और शुद्धोपयोग से शोभायमान हैं, शुद्ध हैं; सभी उपाधियों (परिग्रह) से रहित वे साधु ही मोक्षतत्त्व साधक हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिन्होंने अनेकान्त को जानकर प्रतीतिपूर्वक निजस्वरूप की लीनता की है, वे अब पुनः पाँच इन्द्रियादि विषयों में वृत्ति उत्पन्न नहीं करते।

ऐसे सकल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनिराज ही मोक्षमार्गरूप हैं।[१]

दया-दानादि के भाव अशुद्धोपयोग हैं और चैतन्य के आश्रय से उत्पन्न शुद्धोपयोग मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व अथवा मोक्षमार्ग है।[२]

व्यवहार, पुण्य और निमित्त रहित शुद्धदशा को मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग निर्दोष वीतरागीदशा है। दशा दशावान से भिन्न नहीं रहती ह्न ऐसी दशा के धारक सकल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षमार्ग का साधन तत्त्व अथवा मोक्षमार्ग जानना चाहिए।[३]

शुद्धोपयोगी मुनिराज को मोक्षमार्ग कहा; उसका प्रमुख कारण यह है कि अनादि संसार में रमे हुए, बंधे हुए विकट कर्मरूपी डोरी को खोलने का वे अति उग्र प्रयत्न/पराक्रम कर रहे हैं।[४]

इसप्रकार अन्तरवीर्य सहित शुद्धता को प्राप्त करने और निमित्तरूप कर्म को तोड़ने का प्रयत्न करनेवाले महामुनिराज को मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष का साधनतत्त्व कहा है।[५]''

२७२वीं गाथा में भावलिंगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व कहा था और अब इस २७३वीं गाथा में उन्हीं को मोक्ष का साधनतत्त्व कहा जा रहा है, मोक्षमार्ग कहा जा रहा है। इसका सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि निज भगवान आत्मा को जानकर, पहिचानकर, उसी में अपनापन स्थापित कर, उसी में समा जानेवाले नग्न दिगम्बर श्रमण ही मोक्ष तत्त्व हैं और वे ही मोक्षमार्ग तत्त्व हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण धर्मतत्त्व भावलिंगी नग्न दिगम्बर सन्तों में ही समाहित है। ●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४७१
२. वही, पृष्ठ ४७१
३. वही, पृष्ठ ४७१-४७२
४. वही, पृष्ठ ४७३
५. वही, पृष्ठ ४७४

प्रवचनसार गाथा २७४

विगत गाथा में जिन शुद्धोपयोगी श्रमणों को मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व के रूप में स्थापित किया गया है; अब इस गाथा में **उन्हीं शुद्धोपयोगी श्रमणों का सर्व मनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन करते हैं।**

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स।।२७४।।

(हरिगीत)

है ज्ञान-दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है।
हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है।।२७४।।

शुद्ध अर्थात् शुद्धोपयोगी को श्रामण्य कहा है, शुद्ध को ही दर्शन और ज्ञान कहा है और शुद्ध को ही निर्वाण होता है। सिद्ध होनेवाले शुद्धोपयोगियों को और सिद्धों को बारम्बार नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप से प्रवर्तमान एकाग्रता लक्षण साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रामण्य शुद्ध (शुद्धोपयोगी) के ही होता है। समस्त भूत, वर्तमान और भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक विश्व के सामान्य और विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन-ज्ञान भी शुद्ध के ही होते हैं। निर्विघ्न खिला हुआ सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला दिव्य निर्वाण भी शुद्ध के ही होता है और टंकोत्कीर्ण परमानन्द अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर सिद्धदशा को शुद्ध (शुद्धोपयोगी) ही प्राप्त करते हैं। अधिक कहने से क्या लाभ है ? सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप शुद्ध को; जिसमें परस्पर अंग-अंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर विभाग अस्त

हो गया है ह्न ऐसा भाव नमस्कार हो।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि **यहाँ यह कहा गया है कि इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के माध्यम से सम्पूर्ण इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं ह्न ऐसा मानकर, शेष मनोरथों को छोड़कर, इसमें ही भावना करना चाहिए।**

इस गाथा के भाव को पंडित देवीदासजी १ छन्द में और कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण और १ दोहा ह्न इसप्रकार २ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। पंडित देवीदासजी कृत छन्द इसप्रकार है ह्न

(सवैया इकतीसा)

वीतरागभाव जाके हिरदैं प्रगट भये,
सोई मोखसाधक जतीस्वर कहायो है।
दर्शन सु ग्यान और चरन की एकता सौं,
मोछ रूप तिन्हि कैं जतित्व पद आयौ है।।
सवै तत्त्व कैं सु परखैया मोख के जवैया,
सिद्ध हू हैं जे सु अैसो पंथ तिन्हि पायौ है।
मोख मारगी महंत सुद्ध उपयोगवंत,
जाकौं देवीदास बार-बार सीसु नायौ है।।९५।।

जिनके हृदय में वीतरागभाव प्रगट हुआ है; मोक्ष के साधक वे ही यतीश्वर कहे जाते हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग में चलने से उन्हें यतिपद की प्राप्ति हुई है। सभी तत्त्वों के परखनेवाले वे यति मोक्ष जानेवाले हैं और ऐसा रास्ता जिन्होंने प्राप्त किया है, वे एक प्रकार से सिद्ध ही हैं। उन शुद्धोपयोगी मोक्षमार्गी महान सन्तों को यह देवीदास बारम्बार शीश नवाकर नमस्कार करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा में तीनकाल और तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को जानने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है, वह शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। दया-दानादि के परिणाम से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। निज आत्मा

के अवलंबन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है; अतः शुद्धोपयोगी जीव ही निर्वाण प्राप्त करता है।[१]

मैं त्रिकाली शुद्ध आत्मा हूँ। मेरा तत्त्व पर से भिन्न है। ज्ञानस्वभावी ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होने पर शुद्धता प्रगट होती है, केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होता है। अनन्त पदार्थों को एक समय में अभेदरूप से देखनेवाला केवलदर्शन है तथा उसीसमय समस्त पदार्थों को भेदपूर्वक जाननेवाला केवलज्ञान है।

केवलज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर प्रगट होता है, पुण्य-पाप अथवा महाव्रत के परिणामों से प्रगट नहीं होता। जो स्वयं को जाननेवाला है, वह किसे नहीं जानेगा?

वह जीव सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। यह सम्पूर्णज्ञान अपने सुखस्वभाव में से आता है। ॐ का जाप करें, ध्यान करें, तीर्थंकर का लक्ष करें तो केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। किसी गुरु अथवा भगवान की कृपा से भी केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; अपितु शुद्धोपयोग से केवलज्ञान प्रगट होता है।[२]

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि वचनविस्तार से बस होओ। सर्व मनोरथ के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं। जिसप्रकार योग्य काली भूमि में भिन्न-भिन्न जातियों के फलों की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार शुद्धोपयोग से साधुपद, केवलदर्शन-केवलज्ञान, निर्वाण तथा सिद्धदशा की प्राप्ति होती है ह्न इसलिये ऐसे शुद्धोपयोग को भावनमस्कार हो।[३]''

इस गाथा में निष्कर्ष के रूप में यह कह दिया गया है कि शुद्धोपयोगी सन्तों के ही सच्चा श्रामण्य (मुनिपना) है और वे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न हैं। अधिक क्या कहें ह्न एक उनको ही मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली है। इसलिए हम सिद्धदशा प्राप्त करने में संलग्न शुद्धोपयोगी सन्तों और सिद्धों को बारम्बार नमस्कार करते हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४७७ २. वही, पृष्ठ ४८५ ३. वही, पृष्ठ ४८८

प्रवचनसार गाथा २७५

पंचरत्नसंबंधी विगत चार गाथाओं में संसारतत्त्व, मोक्षतत्त्व और मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का स्वरूप और मोक्षतत्त्व और उसके साधनतत्त्व की महिमा बताकर **अब इस अन्तिम गाथा में; न केवल पंचरत्न अधिकार की अन्तिम गाथा में, अपितु प्रवचनसार परमागम की इस अन्तिम गाथा में शिष्यजनों को शास्त्रफल से जोड़ते हुए इस शास्त्र का समापन करते हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि।।२७५।।

(हरिगीत)

जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को।
वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज आत्मा के सार को।।२७५।।

जो साकार-अनाकार चर्या से युक्त रहता हुआ इस शासन (उपदेश) को जानता है; वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार (भगवान आत्मा) को प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शन मात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार- अनाकार चर्या से युक्त जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तार-संक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक केवल आत्मा का अनुभव करता हुआ इस उपदेश को जानता है; वह शिष्यवर्ग वस्तुत: भूतार्थ स्वसंवेद्य दिव्य ज्ञानानन्दस्वभावी, पूर्वकाल में अननुभूत, तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सम्पूर्ण पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।''

ध्यान रहे उक्त गाथा की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका में, गाथा में समागत

लहुणा कालेण पद की उपेक्षा हो गई है; जबकि जयसेनीय तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त पद का अर्थ **अल्पकाल** में उपलब्ध है।

दूसरी बात यह है कि यहाँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में गाथा में समागत **सागारणगार** पद का अर्थ साकार-अनाकार (ज्ञान-दर्शन) उपयोग किया है और जयसेनीय तात्पर्यवृत्ति टीका में श्रावक और साधु किया गया है।

पण्डित देवीदासजी एवं वृन्दावनदासजी ने भी **सागारणगार** पद का अर्थ करने में और **लहुणा कालेण (अल्पकाल में)** पद का प्रयोग करने में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका का अनुकरण किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूपी मैं हूँ उसमें लीनता करना ही प्रवचन का सार है। जिसप्रकार छांछ को बिलोनेरूप सम्पूर्ण क्रिया का सार एक मक्खन की प्राप्ति है; उसीप्रकार शरीर बाह्य में स्थित है, इसके साथ हमारा कोई संबंध नहीं है। पुण्य-पाप के भाव भी दूर करने योग्य हैं। एक मात्र विशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही करने योग्य है। यही प्रवचन का सार है।

जिनमन्दिर बनने के पश्चात् ऊपर स्वर्णकलश विराजमान करते हैं, उसीप्रकार यह अन्तिम गाथा प्रवचनसार पूर्ण होने पर स्वर्णकलश के समान है।[१]

इसप्रकार प्रवचन का सार ग्रहणकर शिष्यवर्ग, सत्यार्थ, स्वसंवेद्य, ज्ञानानन्द स्वभाव से युक्त आत्मा को पाते हैं।[२]

आत्मा को बारंबार सुनने-समझने में मुमुक्षु को प्रमाद नहीं आता, किन्तु इससे ज्ञान की दृढ़ता होती है, अतः जो शिष्य प्रमादरहित होकर प्रवचन का सार समझते हैं, वे निज ज्ञानानन्द आत्मा का अनुभव करते हैं।[३]

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ४९७
२. वही, पृष्ठ ५००
३. वही, पृष्ठ ५०१

निज शुद्धात्मा प्रवचन का सारभूत है, क्योंकि सर्वपदार्थसमूह का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचन में एक निजात्मपदार्थ ही स्वयं ध्रुवस्वरूपी है, दूसरा कोई पदार्थ ध्रुव नहीं है।[१]

स्वयं के लिए स्वयं का भगवान आत्मा ही ध्रुव है ह्न ऐसे निज ज्ञानानन्दमय भगवान आत्मा में स्थिर होकर वीतराग दशारूप परिणति करना ही इस प्रवचनसार का सार है।[२]''

ग्रन्थाधिराज प्रवचनसार की इस अन्तिम गाथा में जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस प्रवचनसार में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को, ज्ञानतत्त्व को, ज्ञेयतत्त्व को और श्रमणों के आचरण संबंधी सम्पूर्ण प्रकरण को जो गहराई से समझेंगे, तदनुसार अपने जीवन को ढालेंगे; उन्हें अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक महाधिकार में समागत पंचरत्न अधिकार समाप्त होता है। इसके साथ ही प्रवचनसार ग्रंथ मूलत: समाप्त होता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग ५, पृष्ठ ५०२ २. वही, पृष्ठ ५०२

भाई! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है। ह्न ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जायेगा, कृतकृत्य हो जायेगा। एक बार ऐसा स्वीकार करके तो देख। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३**